विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)
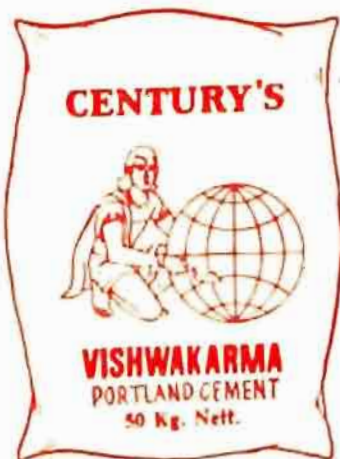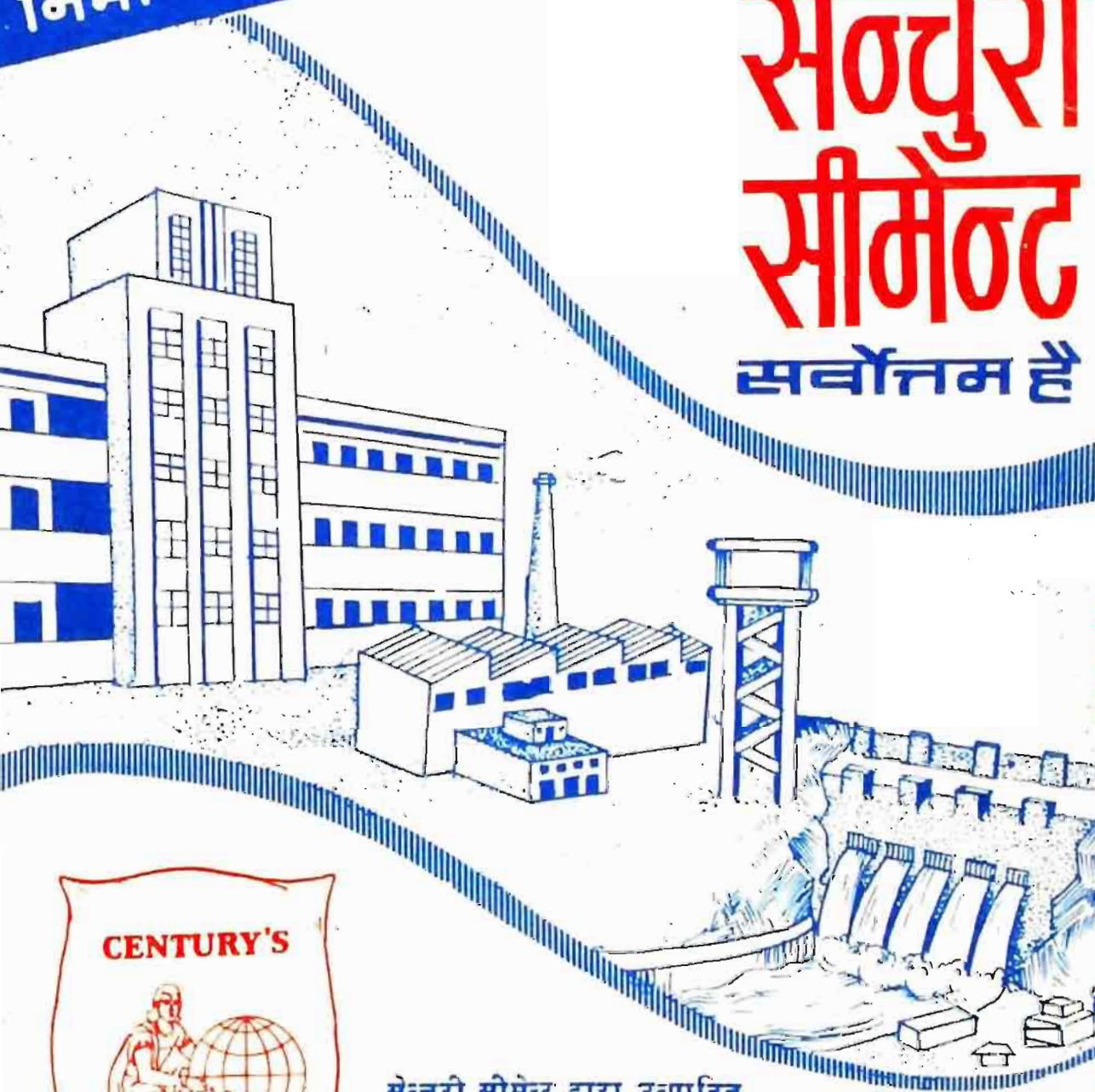
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल—मई—जून

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर—४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर

प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज
परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ—मिशन

जन्म :
अक्तूबर १८९२

महासमाधि :
१३ मार्च १९८५

श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज की

महासमाधि

हमें यह सूचित करते गहन दुःख हो रहा है कि रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के परमाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज बुधवार, १३ मार्च १९८५ को अपरान्ह ३.१७ बजे महासमाधि में लीन हो गये। उनकी आयु ९३ वर्ष की थी।

स्वामीजी का जन्म दक्षिण कन्नड़ कर्नाटक के गुरुपुर ग्राम में अक्तूबर १८९२ ई. में हुआ था। उनके पूर्वाश्रम का नाम पाण्डुरंग प्रभू था। प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास से स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उन्होंने सन् १९१६ में, २४ वर्ष की आयु में, रामकृष्ण संघ में प्रवेश लिया। उन्हें श्रीमाँ सारदादेवी से मंत्र दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। १९२० में उन्होंने रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज से संन्यास ग्रहण किया। श्रीरामकृष्णदेव के अन्य कई संन्यासी-शिष्यों के निकट सम्पर्क में आने का भी उन्हें अपूर्व योग मिला था।

उन्होंने अपने जीवन के लगभग ७० वर्ष रामकृष्ण संघ की सेवा में व्यतीत किये। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर काम किया। श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास की सेवा में कुछ काल बिताकर वे अद्वैत आश्रम, मायावती में--'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के जन्मस्थान में---काम करने गये। बाद में वे उसकी कलकत्ता-शाखा में व्यवस्थापक के रूप में स्थानान्तरित हुए और सन् १९२७ में १९३७ तक उसके अध्यक्ष-पद को सुशोभित

करते रहे। उनके अध्यक्ष-काल में अद्वैत आश्रम के कार्यों का उल्लेखनीय विस्तार हुआ। १९२९ में वे रामकृष्ण मठ के न्यासी तथा रामकृष्ण मिशन की प्रशासी परिषद् के सदस्य निर्वाचित हुए। १९३८ में वे रामकृष्ण संघ के सहायक सचिव के पद पर नियुक्त हुए। राहत कार्यों के संचालन का भार आपको दिया गया। बंगाल में पड़े अकाल के समय १९४३-४५ में उनके नेतृत्व में सराहनीय राहत कार्य किये गये। सन् १९४९ से १९५१ के बीच जब संघ के महासचिव स्वामी माधवानन्दजी स्वास्थ्य के कारणों से छुट्टी पर थे, वीरेश्वरानन्दजी महासचिव के पद पर कार्य करते रहे और १९६१ से फरवरी १९६६ तक पुनः इस पद पर कार्यरत रहे। फरवरी १९६६ में उन्हें संघ के परमाध्यक्ष-पद के लिए चुना गया, जिस पद को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक सुशोभित करते रहे।

स्वामी वीरेश्वरानन्दजी के कार्यकाल में रामकृष्ण मठ-मिशन के कार्यों का बहुत विस्तार हुआ तथा संघ की गतिविधियों ने सुदृढ़ आधार प्राप्त किया। उन्हें ग्रामीण विकास कार्यों में गहरी दिलचस्पी थी। समाज के कमजोर वर्ग के उन्नयन में वे सक्रिय रुचि रखते थे।

स्वामीजी का पाण्डित्य अगाध था। शास्त्रों में उनकी गहरी पैठ थी। उनकी उल्लेखनीय कृतियों में शंकर-भाष्य पर आधारित 'ब्रह्म-सूत्र' का अँगरेजी अनुवाद तथा श्रीधरस्वामी की टीका के आधार पर टिप्पणियों समेत 'भगवद्गीता' का अँगरेजी अनुवाद ये दो ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त, उनकी अनेक रचनाएँ और व्याख्यान विभिन्न भाषाओं में अनुवादित होकर छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किये गये हैं।

१३ फरवरी से उनका स्वास्थ्य खराब होने लगा था। चिकित्सकों एवं रामकृष्ण संघ के अन्य वरिष्ठ अधिकारियों ने उनसे रामकृष्ण मिशन के सेवा प्रतिष्ठान चिकित्सालय में चलने का बड़ा ही आग्रह किया, पर उन्होंने बेलुड़ मठ को छोड़कर कहीं जाना पसन्द नहीं किया। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक शान्त और प्रसन्नचित रहे। महासमाधि में लीन होने से कुछ पूर्व तक उन्होंने कुछ लोगों से प्रसन्नचित्त से बात की और अन्त में अपनी भौतिक देह यहीं छोड़ उनकी आत्मा परमतत्त्व में मिलित हो गयी।

उनका पूत शरीर १४ मार्च के दोपहर १ बजे तक भक्तों के दर्शन के लिए रखा गया। सहस्र सहस्र नर-नारियों ने अपने परमप्रिय एवं परम आदरणीय धर्मगुरु के अन्तिम दर्शन किये तथा अनेक संन्यासियों एवं अगणित भक्तों की उपस्थिति में १४ मार्च १९८५ को दोपहर १ बजे उनकी पूत देह को चन्दन काष्ठ की चिता पर सजाकर अग्नि-संस्कार सम्पन्न किया गया। उन्हें हमारा शत शत प्रमाण !

भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह तथा प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए उन्हें 'एक महान् आध्यात्मिक विभूति' निरूपित किया, जिनका देहावसान मात्र भारत ही नहीं बल्कि समूची मानवता के लिए एक 'अपूरणीय क्षति' था।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २३] अप्रैल—मई—जून ★ १९८५ ★ [अंक २

कल्याण के मार्ग

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकंपा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥

—जीव-हिंसा न करना, पराया धन हरण करने से मन को रोकना, सत्य बोलना, समय पर सामर्थ्यानुसार दान करना, पर-स्त्रियों की चर्चा न करना और न सुनना, तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना, गुरुजनों के आगे नम्र रहना और सब प्राणियों पर दया करना—सामान्यतया, सब शास्त्रों के मत से ये सब मनुष्य के कल्याण के मार्ग हैं ।

——भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', २६ ।

अग्नि-मंत्र

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

पेरिस,
२८ अगस्त, १९०० ई०

प्रिय निवेदिता,

बस, यही तो जीवन है––केवल मेहनत करते रहो, बस मेहनत करते रहो। इसके अतिरिक्त हम और कर ही क्या सकते हैं ? मेहनत करते रहो, मेहनत करते रहो। कुछ होना अवश्य है, कोई न कोई रास्ता अवश्य मिलेगा। और यदि ऐसा न हो––सम्भवत: वास्तव में ऐसा कभी नहीं होगा––तो फिर, क्या है ? हमारे जितने भी प्रयास हैं, वे सभी सामयिक हैं––वे उस चरम परिणति मृत्यु के परिहार के लिए हैं । अहो सम्पूर्ण क्षतियों की पूर्ति करनेवाली मृत्यु ! तुम्हारे बिना जगत् की न जाने क्या दशा होती ?

ईश्वर को धन्यवाद है कि यह संसार नित्य नहीं है और न चिरन्तन । भविष्य फिर अच्छा किस प्रकार से हो सकता है ? वह तो वर्तमान का ही परिणाम है; अत: अधिक खराब भले ही न हो, फिर भी वह वर्तमान के अनुरूप होगा ।

स्वप्न, अहा ! केवल स्वप्न ! स्वप्न देखते रहो ! स्वप्न––स्वप्न की पहेली ही इस जीवन का कारण है, और उसके अन्दर ही इस जीवन का समाधान भी मौजूद है। स्वप्न, स्वप्न, केवल स्वप्न ही है ! स्वप्न के द्वारा ही स्वप्न को दूर करो ।

मैं फ्रेंच भाषा सीखने का प्रयास कर रहा हूँ और यहाँ––के साथ उस भाषा में बातें कर रहा हूँ । अभी से बहुत से लोग प्रशंसा कर रहे हैं। सारी दुनिया के साथ

वही अन्तहीन गोरखधन्धे की बातें, भाग्य की सीमाहीन उत्थान-पतन की बातें—जिसका छोर ढूंढ़ना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है; फिर भी प्रत्येक व्यक्ति उस समय ऐसा समझने लगता है कि मैंने उसे ढूंढ़ निकाला है और उसके द्वारा कम से कम उसे स्वयं तृप्ति मिलती है तथा कुछ क्षण के लिए वह अपने को भुलावे में डाल रखता है—क्या यह सत्य नहीं है ?

हाँ, एक बात यह है कि अब महान् कार्य करने होंगे। किन्तु महान् कार्य के लिए कौन माथापच्ची करता है ? सामान्य कार्य भी कुछ क्यों न किये जाएँ ? किसी की अपेक्षा कोई हीन तो नहीं है। गीता तो छोटे के अन्दर महान् को देखने की शिक्षा देती है। धन्य है वह ग्रन्थ ! . . .

शरीर के बारे में सोचने-विचारने के लिए मुझे विशेष अवकाश नहीं था। इसलिए वह ठीक ही है, ऐसा समझ लेना चाहिए। इस संसार में कोई भी वस्तु चिरकाल के लिए भली नहीं है। किन्तु हम बीच-बीच में यह भूल जाते हैं कि भलाई का तात्पर्य केवल भला होना तथा भलाई करना है।

चाहे भला हो या बुरा, हम लोग सभी इस संसार में अपना-अपना अभिनय कर रहे हैं। जब स्वप्न टूट जाएगा और हम इस रंगमंच को छोड़कर चले जाएँगे, तभी हम खुले दिल से इन विषयों को लेकर हँसते रहेंगे। एकमात्र यही बात निश्चित रूप से मेरी समझ में आयी है।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

नवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।---स०)

सृष्टि-तत्त्व, ईश्वर और जगत्-संसार

गंगा के वक्षस्थल पर जहाज में केशव और अन्यान्य ब्राह्मभक्तों के साथ ठाकुर का अविराम ईश्वर-प्रसंग चल रहा है। केशव ठाकुर से जानना चाहते हैं कि माँ-काली कितने प्रकार से लीला करती हैं। यहाँ स्मरण रखना होगा कि केशव सेन ब्राह्मसमाज के नेता हैं। इसलिए उनका अनुराग निराकार के ऊपर है तथा मूर्तिपूजा के प्रति उनका हेय-भाव रहना स्वाभाविक है। लेकिन ठाकुर के संस्पर्श में आकर उनका वह एकांगी भाव धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है। वे जानना चाहते हैं कि मा-काली नाना भावों में किस प्रकार लीला करती हैं। ठाकुर उनके प्रश्न के उत्तर में महाकाली और निन्यकाली का उल्लेख करते हुए कहते हैं---तन्त्र में माँ को निराकार कहा है। सृष्टि तब भी नहीं हुई है। उन्होंने सृष्टि के पहले पूर्वसृष्टि का बीज संग्रह कर रखा था। कहना न होगा कि ठाकुर यहाँ पर तन्त्र एवं

वेदान्त की अथवा वेदविहित अन्य जो सब साधन-प्रणालियाँ हैं, उनके एक गूढ़ रहस्य की बात कह रहे हैं। वह रहस्य यह है कि सभी जानते हैं कि सृष्टि नित्य नहीं है। अब जो नित्य नहीं है, एक दिन उसका नाश होगा ही, एवं नाश होने के उपरान्त पुनः सृष्टि कहाँ से होगी ? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म के भीतर से ही सृष्टि होगी अर्थात् वह कार्य और कारण दोनों है, तब प्रश्न उठेगा कि तब तो उसके भीतर वैचित्र्य को, अनेकता को स्वीकार कर लेना हुआ ? अब इस वैचित्र्य को यदि स्वीकार करते हैं, तो अद्वैतहानि होती है, और यदि अस्वीकार करते हैं, तो सृष्टि असम्भव हो जाती है। इसीलिए तन्त्र में, तथा वेदान्त में भी, यह कहा जाता है कि जब समस्त जगत् लय को प्राप्त होता है, तब ईश्वर सृष्टि के बीजों को अपने भीतर संग्रह करके रखता है और चूंकि ये बीज उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हैं, इसलिए वहाँ द्वैतापत्ति नहीं होती। हम जब अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जगत्-रचना की बात सुनते हैं, तथा रचना का क्रम इस प्रकार देखते हैं——सबसे पहले हिरण्यगर्भ के रूप में ब्रह्म का आविर्भाव होता है। हिरण्यगर्भ मानो जगत्-स्रष्टा है——जगत् की सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्म मानो एक व्यक्ति के रूप में आविर्भूत होता है। उसके पश्चात् उसके ही भीतर से प्रथम सृष्टि आरम्भ होती है। पहले उसके भीतर से वेद का आविर्भाव होता है। वेद माने समस्त ज्ञान का सूक्ष्म रूप, जो उसके भीतर पहले भावरूप में आविर्भूत होता है। इसके पश्चात् वह उसे स्थूल रूप देता है, तथा इस स्थूल रूप का भी क्रम है। कहा गया है——

तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन: आकाश: सम्भूत: आकाशाद् वायु: वायोरग्नि: अग्नेराप: अद्भ्य: पृथिवी । ——अर्थात् उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और उसके पश्चात् पंचभूतात्मक विभिन्न प्रकृति । उसके भीतर अव्यक्त रूप से जो सृष्टि थी, उसे ही मानो सृष्टि का बीज संग्रह कर रखना कह रहे हैं । आद्याशक्ति इस सृष्टि को ईश्वर के भीतर से बाहर लाती है, और पुन: उसी में रख भी देती है । मकड़ी के जाल रचने से इसकी उपमा देते हैं । उपनिषद् में कहा गया है——'यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च'——जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाले का विस्तार करती है तथा पुन: उस जाले को अपने भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने भीतर से इस जगत् को प्रकाशित करता है और पुन: अपने भीतर ही उसे समेट लेता है ।

जिसके भीतर से इस जगत् की सृष्टि होती है, जिसमें यह जगत् अवस्थित रहता है तथा अन्त में इस जगत् का जिसमें लय होता है, उसे ही हम 'ब्रह्म' कहते हैं, 'ईश्वर' कहते हैं । लेकिन ईश्वर की यह सृष्टि कुम्हार की कुम्भसृष्टि के समान नहीं है । कुम्हार जब हण्डी-कलशी तैयार करता है, तब वह उसे अपने भीतर से तैयार नहीं करता, वह बाहर के किसी उपादान से वह सब बनाता है । कुम्हार यदि न भी रहे तो इससे हण्डी-कलशी की न तो कोई क्षति होगी, न वृद्धि । पर जगत की सृष्टि इस प्रकार नहीं है——इस बात को समझाने के लिए ही उपनिषद् कहता है कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति होती है, जिसमें यह जगत्

स्थित है तथा जिसमें इस जगत् का लय होगा, वही ईश्वर है, ब्रह्म है।

अत: यह सृष्टि, स्थिति और लय जिस प्रकार उससे होते हैं, उससे वह जगत् का उपादान-कारण भी है और निमित्त-कारण भी। हण्डी-कलशी का उपादान-कारण मिट्टी है और निमित्त-कारण है कुम्भकार। कुम्हार है इसलिए मिट्टी का यह रूपान्तर होता है। लेकिन यहाँ तो एक ईश्वर को छोड़ दूसरा कुछ नहीं है। उसको छोड़ ऐसा कोई उपादान नहीं है, जिसे वह रूपान्तरित करेगा। ऐसा कोई साधन नहीं है, जिसकी सहायता से रूपान्तरित करेगा। ऐसी कोई सत्ता नहीं है, जो उसके द्वारा रचे गये इस जगत् के लिए उपादान का काम करेगी। इसीलिए कह रहे हैं—उसी ने इस जगत् को रचा है, फिर इस जगत् में वह अवस्थान करता है तथा पुन: उसी में इस जगत् का लय हो जायगा। उपनिषद् में कहा गया है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'—अर्थात् जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा यह जगत् सत्तामान प्रतीत होता है, तथा अन्त में जिसमें इस जगत् का लय होता है, वही है वह परम तत्त्व। उसका सन्धान करो। परमतत्त्व की यहाँ पर जिस प्रकार व्याख्या की गयी है, उसमें वह उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है। इसलिए उसकी जगत्-सृष्टि अन्य किसी भी साधारण सृष्टि के साथ तुलनीय नहीं हो सकती। केवल ऊर्णनाभि (मकड़ी) अथवा विस्फुलिंग के साथ उसकी आंशिक रूप से तुलना की जा सकती है—'यथा अग्नेर्विस्फुलिंगा: प्रवर्तन्ते सरूपा:'

अर्थात् जैसे अग्नि से हजार-हजार अग्निस्फुलिंग निकलते हैं, बहुत कुछ इसी प्रकार । जो अग्नि का तत्त्व है, वही स्फुलिंग का भी तत्त्व है, फिर भी वह अग्नि से भिन्न रूप में प्रतीत होता है । लेकिन इन दृष्टान्तों के साथ जीवसृष्टि के दृष्टान्त का कहीं भी पूरा-पूरा मेल नहीं बैठता, सादृश्य केवल अंशत: है ।

ईश्वर की इति नहीं है

इस दृष्टान्त के द्वारा मनुष्य को ब्रह्म की जगत्-सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ धारणा हो सकती है । ठाकुर कह रहे हैं, माँ ने इस जगत् की सृष्टि इस प्रकार की है । जगत् की सृष्टि के पूर्व माँ के स्वरूप के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि वह निराकार है । भक्त गाता है––'ब्रह्माण्ड जब नहीं था, माँ, मुण्डमाला कहाँ पा ली ?' वराभयकरा मुण्डमाला धारण किये हुए है; उस मूर्ति को लक्ष्य करके कहते हैं––जब ब्रह्माण्ड नहीं था, तब उसकी यह मुण्डमाला कहाँ थी ? यह सब हमारी दृष्टि से मानो असम्भव है, लेकिन जो नित्य है, हमारे मन-बुद्धि से अगोचर है, उसके लिए सब सम्भव है। भक्तों ने, साधकों ने उसे इसी प्रकार देखा है । गीत में है––'माँ कि आमार कालो रे । कालोरूपे दिगम्बरी, हृत्पद्म करे आलो रे' (माँ क्या मेरी काली रे । कालीरूपी दिगम्बरी, हृदयपद्म करे उजियाला रे) । माँ-काली है कि नहीं, यह जानने के लिए उसके पास जाकर ही जानना होगा । इसे छोड़कर कोई उपाय नहीं है । हम जब देखते हैं, तब जैसा हमारा दृष्टिकोण है, वैसा ही उसका रंग, उसका रूप दिखायी देता है। लेकिन मनुष्य जब उसमें लीन हो जाता है, तब उसकी धारणा इन

साधारण प्रवर्तक आदि उपासकों की धारणा के साथ मेल नहीं खाती । गिरगिट को लोग अनेक रंगों में देखते हैं, लेकिन जो उस वृक्ष के नीचे रहता है, वही ठीक से कह सकता है कि गिरगिट का स्वरूप क्या है । वह कहता है कि हम इसे जितने रंगों में देखते हैं, वे सभी रंग उसके हैं । भक्त कहता है—'चिदाकाशे जार जा भासे, ताइ तार बोधेर सीमाना' (जिसके चिदाकाश में जैसा भासित होता है, वही उसके बोध की सीमा है) । जिसके मन में जो अनुभव हो रहा है, उसकी बुद्धि मात्र उसके अनुभव के द्वारा सीमित हो जाती है । इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में हममें से जो जैसी धारणा रखता है, बस वही उसकी सीमा है, ऐसा हम कभी भी न सोचें । हम इस बात को हरदम याद रखें कि जो हम अनुभव कर रहे हैं, वह उसका रूप है सही, पर इस रूप को छोड़कर उसके और कोई रूप नहीं है यह बात हम कभी भी न सोचें, हम कभी भी उसकी 'इति' न करें ।

बन्धन और मुक्ति

इसके बाद ठाकुर बन्धन और मुक्ति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं । वे कह रहे हैं—बन्धन और मुक्ति इन दोनों के कर्ता वे (ईश्वर) ही हैं । अब इस बात पर विचार करने से हमारे मन में प्रश्न उठता है कि उन्होंने फिर दोष की सृष्टि क्यों की । बन्धन की सृष्टि वे नहीं भी तो कर सकते थे । इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं, ऐसा होने से ढाई का खेल नहीं चलता । उनका खेल चलता रहे इसके लिए अच्छे के साथ बुरे को भी रखना पड़ेगा । कहते हैं, सभी यदि ढाई को छूकर बैठ जाएँ,

तो खेल चलेगा कैसे ? पर हाँ, यदि कोई खेलते-खेलते थक जाय, तब ढाई स्वयं अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा देती है। यहाँ प्रश्न होता है कि वे तो खेल रहे हैं, पर हमारी तो जान निकली जा रही है। शायद आपको स्मरण हो, ईसप की कहानियों में मेंढकों ने लड़कों से कहा था—तुम्हारे लिए तो यह खेल है, पर हम तो मरे जा रहे हैं। इसके उत्तर में ठाकुर 'वचनामृत' में अनेक स्थानों में कह चुके हैं कि तुम लोग जो 'हम लोग मरे जा रहे हैं' कहते हो, वह 'हम लोग' कौन है ? ईश्वर को छोड़कर क्या और कोई है ? यदि वे स्वयं कभी अपनी आँखों में पट्टी बाँधकर, तो कभी आँखों को खोलकर चक्कर लगाते रहें, तो इससे भला दूसरे पर क्या अत्याचार करना हुआ ? ठाकुर कह रहे हैं—'हे राम, तुमने अपनी दुर्दशा स्वयं की है।' जहाँ वे बन्धन में रहते हैं, वहाँ वे स्वयं कष्ट-भोग कर रहे हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस प्रकार अपने लिए कष्ट को स्वयं बुला लाना तो मूर्ख भी नहीं करता। इसका उत्तर यह है कि मूर्ख की भी बुद्धि क्या उन्हीं की नहीं है ! वे उस बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। उनकी जो बुद्धि है, वह हमारी बुद्धि के लिए अगोचर है। न समझ सकने के कारण कहते हैं—उनकी लीला है, तथा इस लीला के साथ छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों के खेल की तुलना करते हुए कहते हैं—'लोकवत् तु लीला कैवल्यम्'। जैसे छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ खेलने के लिए घर बनाते हैं, बिगाड़ते हैं और पुनः बनाते हैं, ठीक इसी प्रकार वे जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करते हैं। असल बात यह है कि उन्हें छोड़कर और दूसरा

कोई नहीं है। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'— इस जगत् में मैं अकेला हूँ; मुझे छोड़ और दूसरा कौन है? अतः उन्हें छोड़कर जब और कोई नहीं है, तब किसी को तो वे बद्ध कर रहे हैं और किसी को मुक्त— ऐसा तो नहीं होता।

मुक्ति का उपाय

अब बन्धन यदि हमें पसन्द न हो, तो उसका भी उपाय है। यदि हम हृदय से कातर होकर प्रार्थना करें, तो वे हमें इस बन्धन से मुक्त कर देते हैं। किन्तु उन्होंने ऐसी विविधता की रचना क्यों की है, इस प्रश्न के लिए कोई गुंजाइश नहीं है! क्यों की है, यह तो हम नहीं जानते। हम तो इतना ही सोच सकते हैं कि इस सृष्टि में तुम्हारा खेल जैसा भी हो, माँ, तुम हमें रिहाई दो। ऐसा होने से हो सकता है, वे मुक्ति देने में संकोच न करें; लेकिन उनसे यह प्रश्न करना नहीं बनता कि क्यों उन्होंने ऐसी सृष्टि रची है। यह उनकी मौज है। इसीलिए उनको कहा गया है—'इच्छामयी', 'मौजी'। उनकी जैसी इच्छा होगी, वे वैसा ही करेंगी, हमारे सिद्धान्तों के लिए नहीं रुकेंगी। हमें यदि यह बन्धन असह्य हो रहा हो, तो उससे मुक्ति का उपाय खोजना होगा। उस उपाय के सम्बन्ध में भी उन्होंने ही व्यवस्था कर रखी है। किन्तु क्या हम उस उपाय को लेना चाहते हैं? यहाँ पर कहा है कि इस संसार की सृष्टि करने के पश्चात् वे कह रही हैं, "जाओ बेटे, अब जाकर खेलो।" अब हमें खेल पसन्द है तो हर्ज क्या है? फिर खेलो! जब खिलौना और अच्छा नहीं लगता, तब बालक कहता है, माँ के पास जाऊँगा।'

तब और कोई खिलौना उसे पकड़कर नहीं रख सकता। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह खेल और ये सब खिलौने हमारे लिए असह्य हो गये हैं ? यदि हो गये हैं, तो उसकी व्यवस्था है, और वह व्यवस्था उन्होंने ही कर रखी है। कह रहे हैं—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं-भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'—भगवान् ने समस्त इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर रचा है, इसलिए ये इन्द्रियाँ केवल बाहर की वस्तुओं को ही देखती और अनुभव करती हैं; अन्तरात्मा को नहीं देखतीं, उस ओर उनकी नजर नहीं है। लेकिन इन लोगों में कोई विरला ही व्यक्ति 'आवृत्तचक्षु' होता है, जो बाहर की ओर से आँखें फेरकर अन्तरात्मा को देखता है। अत: दोनों ही हैं। उन्होंने एक ओर जैसे मन से कह दिया है कि 'जा, तू विषयों का भोग कर', वैसे ही दूसरी ओर वे उसके लिए भी हाथ बढ़ा देती हैं जो माँ के लिए व्याकुल हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या वैसी व्याकुलता हममें है ? हम क्या फिर से उनकी गोद में लौट जाना चाहते हैं ? अनेक बार हम सोचते हैं कि हम यह चाहेंगे कैसे ? उन्होंने क्या हमें उस अमृत का स्वाद दिया है ? उस स्वाद से वंचित कर रखा है इसीलिए तो हम विषय के प्रति आकर्षण का अनुभव करते हैं। यह बात मानो एक ही वस्तु को घुमा-फिराकर कहना है। विषय के प्रति इतना आकर्षण है तभी तो उनके प्रेम का स्वाद हम नहीं पाते। हम सोचते हैं कि हमारे लिए करने का कुछ नहीं है, जो करना हो वह वे ही करें। 'देवीसूक्त' में है—'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्'—मैं जिसे चाहती हूँ, उसे बड़ा करती हूँ, फिर

जिसे चाहती हूँ अधोगामी बना देती हूँ। शास्त्र कहते हैं—'तमेव साधु कर्म कारयति यम् ऊर्ध्वं निनीषति'—जिसे वे (ईश्वर) ऊँचा उठाएँगे, उससे शुभ कर्म कराते हैं, और 'तमेव असाधु कर्म कारयति यम् अधो निनीषति'—जिसे अधोगामी बनाएँगे, उससे अशुभ कर्म कराते हैं। अब यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म वे ही कराते हैं, तो इसमें हमारा क्या दोष ? कोई दोष नहीं है, केवल एक बात को छोड़कर, और वह यह कि हम यह न सोचें कि मैं कर रहा हूँ।

बन्धन का कारण कर्तृत्व-बोध

ईश्वर को हटाकर यह जो स्वयं का कर्तृत्व-बोध है, यही विपत्ति का मूल है। यदि हम इस बात को सदा स्मरण रख सकते कि सब कुछ वे ही कर रहे हैं, तब तो और कोई चिन्ता ही नहीं थी, तब तो हम जीवन-मुक्त हो जाते। लेकिन जो अच्छा है उसमें तो हम अपना कर्तृत्व देखते हैं और जो बुरा है उसके लिए यदि कहें कि 'वे करा रहे हैं' तब तो यह मन के साथ छल करना है। यह मानो उस ब्राह्मण के द्वारा की गयी गोहत्या के समान है। इस कहानी को यद्यपि आप अनेक बार सुन चुके होंगे, फिर भी एक बार दुहराता हूँ। एक ब्राह्मण ने बहुत सुन्दर बाग लगाया। उस बाग में एक दिन एक गाय घुसकर सुन्दर-सुन्दर फूलों के पौधों को चर गयी। यह देखकर क्रोध से ब्राह्मण आग-बबूला हो गया और उसने गाय को इतना मारा कि वह मर गयी। तब गोहत्या का पाप ब्राह्मण के ऊपर चढ़ने आया। यह देखकर उसने कहा, "ठहरो, यह पाप मैंने नहीं किया है। हाथ के देवता इन्द्र हैं। अतएव गोहत्या इन्द्र ने ही की है, हाथ तो एक

यन्त्रमात्र है।" तब गोहत्या का पाप इन्द्र के पास गया। इन्द्र ने सब सुनकर उस पाप को कुछ देर रुकने के लिए कहा और वे स्वयं एक बूढ़े ब्राह्मण के वेश में उस बगीचे में गये। बगीचे में जाकर बागवान की बड़ी प्रशंसा करने लगे। यह सुन ब्राह्मण बड़ा खुश हो गया। वह छद्मवेशी इन्द्र को घुमा-घुमाकर सब दिखाने लगा और बताने लगा कि कैसे उसने स्वयं यह सारा बाग लगाया है। वह उसका सारा श्रेय स्वयं लेने लगा। घूमते-घूमते वे दोनों हठात् मरी हुई गाय के पास जा पहुँचे। चौंककर छद्मवेशी इन्द्र ने पूछा, "अरे, यह गोहत्या किसने की है?" तब ब्राह्मण निरुत्तर हो गया। अब तक तो वह 'मैंने किया है, मैंने किया है' कह रहा था, अतः अब कैसे कहे कि 'यह इन्द्र ने किया है', इसीलिए वह चुप रह गया। तब इन्द्र ने अपना रूप धारण कर लिया और बोले, "क्यों रे पाखण्डी! जितना अच्छा काम है, वह सब करनेवाला तू और गोहत्या करनेवाला इन्द्र!"

हमारी अवस्था भी ठीक इसी प्रकार है। हम यदि पूरी तरह कर्तृत्वहीन होवें, तो शुभ और अशुभ किसी भी प्रकार के कर्म के फल के लिए हम उत्तरदायी नहीं होंगे। लेकिन जब अपने में हमें कर्तापन का, भोक्तापन का बोध होता है, तब अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के फल भी हमें भोगने पड़ते हैं। अतः या तो यह सारा दायित्व हम पूरी तरह से अपने ऊपर लें, या फिर सब कुछ उनके हाथ में छोड़ दें। बीच का कोई रास्ता नहीं है। सब जगह तो हम कर्ता बने रहें, और जहाँ असुविधा होती है वहाँ यह कहें कि भगवान् करते हैं—यह नहीं हो

सकता। हम कई बार सुनते हैं कि 'थोड़ा भगवान् का नाम लेना चाहिए; सो वह भी यदि वे कराएँगे तो होगा।' पर खाने के समय तो कोई नहीं कहता कि वे खिलाएँगे तो खाएँगे। तब तो हमारी चेष्टा बनी रहती है। खाने के समय तो हम प्राणपण से चेष्टा करते हैं और भगवान् का स्मरण करने के समय कहते हैं कि 'वे कराएँगे तो होगा'। यही हमारा आलस्य है; अपने मन के साथ छल है। यह छल न कर यदि हम सम्पूर्ण रूप से उन पर निर्भर हो सकें, तो हमारा विश्वास कभी धोखा नहीं खाएगा। वे ही सब प्रकार के अमंगल से हमारी रक्षा करेंगे। किन्तु इसके पहले नहीं। और यदि खेल हमें उतना अरुचिकर न हो तो खेल चले। वे देखेंगे। और देखेंगे ही नहीं बल्कि दो-एक पतंग कट जाय तो वे आनन्द से ताली बजा उठेंगे। यह कभी नहीं कहेंगे कि "अरे, मेरा तो खेल ही बन्द हो गया!"

संसार और ईश्वर

इसीलिए कह रहे हैं—वे लीलामयी हैं, यह संसार उनकी लीला है; वे इच्छामयी हैं। वे आनन्दमयी लाखों में से किसी एक को मुक्ति देती हैं। प्रश्न होता है कि वे तो सभी को मुक्ति दे सकती हैं, फिर क्यों नहीं देतीं? इसके उत्तर में ठाकुर कहते हैं कि यह उनकी इच्छा है कि खेल चलता रहे। फिर जब खेल बन्द होगा, तब वह भी तो उन्हीं के करने से होगा। 'प्रसाद बोले मन दियेछो मनेरे आँखि ठारि'—मन को वे इशारा करके संसार करने के लिए कहती हैं। मन वही कर रहा है; उनकी माया में भूलकर मनुष्य संसार को लेकर पड़ा हुआ है।

इसके बाद आता है एक मार्मिक प्रश्न—"महाशय, सब कुछ त्यागे बिना क्या ईश्वर को नहीं पाया जा सकता ?" सर्वत्यागी ठाकुर को देखकर मनुष्य के मन में यह प्रश्न विशेष रूप से उठता है। सर्वत्यागी के सान्निध्य में आने पर मनुष्य का स्वयं का दैन्य प्रकट हो उठता है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि सब कुछ न त्यागने से क्या वे हमारी पकड़ से बाहर ही रहेंगे ? मन में उठता है कि यह सर्वत्याग हमारे लिए सम्भव नहीं होगा, अतः उनको पाना भी हमारे लिए सम्भव न हो सकेगा। ठाकुर हँसते हुए कहते हैं—हँसते हुए इसलिए कि वे हमारी दौड़ जानते हैं—"नहीं जी, तुम्हें भला सब त्याग क्यों करना होगा ? तुम रस में डूबे हुए ठीक ही हो। खण्डसारी के समान।" गुड़ का ढेला होता है, किसी-किसी ढेले में कुछ सिरका गुड़ भी होता है, फिर कुछ दाना गुड़ भी। उसे कहते हैं खण्डसारी के समान। फिर नक्शे के खेल की बात कहते हैं। इस खेल में जो लोग अधिक कटाते हैं, उनकी गोटी से और खेलना नहीं चलता। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "मैं अधिक कटाकर जल गया हूँ।" फिर कहते हैं, "सच कहता हूँ, तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।" यद्यपि ठाकुर के समान सर्वत्यागी को देखकर मन में आता है कि ऐसा होने से अच्छा होता, लेकिन मन नहीं समझता कि वैसी अवस्था सबके लिए नहीं है। यह ठाकुर समझते हैं। इसलिए कहते हैं, "तुम लोग संसार करते हो इसमें दोष नहीं है।" पर ईश्वर में मन रखना होगा, इस सम्बन्ध में ठाकुर कोई समझौता नहीं करते। मैं तो संसार में अपनी इच्छानुसार

चलूँगा और यह ईश्वर का दायित्व है कि वे मुझे यहाँ से उठाकर अपने पादपद्मों में ले जाएँगे—यह नहीं हो सकता। इसीलिए कह रहे हैं, "पर हाँ, ईश्वर की ओर मन देना होगा, नहीं तो नहीं होगा।" अतएव संसार करने में दोष नहीं है, दोष है संसार के प्रति आसक्ति रखने में, भगवान् को भूलकर संसार में डूबे रहने में।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (९)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बंगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बंगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर, बिहार में कार्यरत हैं।--स०)

गतांक से आगे

पाठक--मुक्त हुआ कहाँ? जैसा था वैसा ही हूँ। वही रोग, वही शोक, वही संसार की झंझट, वही तो सब कुछ है और घूमता फिर रहा हूँ।

भक्त--पहले के नशे की खुमारी बाकी है, इसीलिए ऐसा दिखायी पड़ता है। वह किस प्रकार, जानते हो? तुम एक खूब ताकतवर घोड़े पर सवार हो। घोड़ा जोरों से दौड़ रहा है। ऐसे समय में तुम्हारे मन में आया, मैं इसे अमुक स्थान पर रोकूँगा। और इसके लिए तुम दूर से लगाम खींचते हुए आते हो। घोड़ा भी यद्यपि रुकते-रुकते आ रहा है, पर जहाँ पर तुम रोकना चाहते थे वहाँ रुकते हुए भी वह दस हाथ आगे निकल जाता है। तुम्हारे साथ भी यही हुआ है। दस हाथ के भीतर हो, पर रुक गये हो। थोड़ा-सा चलने से ही मुक्त के रूप में जान पाओगे।

और वह जो तुमने कहा कि संसार की झंझट जैसी थी वैसी ही है, इसके उत्तर में ठाकुर की बात सुनो--वे कहते थे कि मुंशी जेल से मुक्त होकर बाहर आकर मुंशीगिरी ही करेगा, यह तो नहीं कि वह उछल-कूद करता नाचता फिरेगा। भगवान् की कृपा से संसारी

लोग मुक्त होकर संसार में ही रहते हैं। संसार क्या भगवान् से अलग है ? संसार उनका ही है।

और रही रोग-शोक की बात, तो अँगीठी के पास रहने से ही शरीर पर आँच आएगी। संसार जलता हुआ चूल्हा है और रहना वहीं है। तो क्या शरीर को गरमी नहीं लगेगी ? शरीर में दाग नहीं लगेगा ? यह सब होते हुए भी जीव ईश्वर की कृपा से मुक्त होता है। अपनी अवस्था खुद ही समझ सकोगे।

पाठक——आपने घोड़े की उपमा देकर जो कहा कि मुक्त होकर भी घूम रहा हूँ, वह बात समझ में नहीं आयी। वह कैसी बात है ?

भक्त——वह बात क्या है, दूसरे प्रकार से सुनो। एक कुम्हार लाठी से अपने चक्के को गोल-गोल घुमा देता है। जब तक लाठी से चक्के को घुमा रहा था, वह खूब जोरों से घूम रहा था और अब जब उसने लाठी को छोड़ दिया है, तब भी चक्का घूम रहा है। तुम्हारे चक्के में इतने दिनों तक लाठी थी, पर ज्योंही तुमने उनका दर्शन पा लिया कि उन्होंने लाठी खींच ली है। फिर भी यह जो घूम रहा है, वह पहले के चक्कर के कारण है। इस चक्कर से कई काम होने को हैं। ठाकुर इस समय कुछ दूसरे प्रकार के बर्तन गढ़ेंगे। बाद में देख पाओगे।

पाठक——चक्कर कब बन्द होगा ? और कैसे जान पाऊँगा कि वह बन्द हो रहा है या नहीं ?

भक्त——रामकृष्णदेव तुम्हारे मन को अपने भीतर जितना खींच लेंगे, उतना ही यह चक्कर कम होता जाएगा। जब समस्त मन को खींच लेंगे, तो एक बड़ा

मजा देख पाओगे। संसार का यह सब हंगामा--रोग, शोक, भय आदि सब कुछ रहते हुए भी नहीं रहेगा, यही शान्ति की अवस्था है।

रहते हुए भी नहीं--यह तुम्हें अभी नहीं समझा पाऊँगा। यह अवस्था की बात है, जब होगी तब समझोगे। तुम्हारा मन ही तुम्हें दिखा देगा, समझा देगा। अभी तुम्हारा मन कहता है--बँधा हुआ हूँ, मुक्त हुआ कहाँ? पर तब कहोगे—मेरा यह बन्धन कैसा? मैं तो चिरकाल से मुक्त हूँ। इसीलिए ठाकुर कहते थे--मनुष्य मन से ही बद्ध और मन से ही मुक्त है। मुक्त पुरुष हजारों काम के रहते हुए भी बद्ध नहीं होते।

पाठक—जिस मन ने बाँध रखा है, वह मन ही बन्धन खोल देता है, तब तो मन ही एकमात्र सब कुछ हुआ। परन्तु आपने पहले कहा कि रामकृष्णदेव मन के राजा हैं।

भक्त—प्रभुकृपा से तुम अच्छी तरह लीला देख और समझ पा रहे हो। अब सुनो, मन और ठाकुर में भिन्नता क्या है। तुम्हें पहले भगवान् के स्वराट् और विराट् स्वरूप और खेल की बात कही है। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् को लेकर जो खेल चल रहा है, उसकी बात भी यथासाध्य कही है। यह अन्तर्जगत् का खेल है। एक बात विशेष रूप से मन में रखो कि इस सृष्टि में केवल उसी एक का खेल चल रहा है। एक अर्थात् रामकृष्णदेव। रामकृष्णदेव को छोड़ अन्य दूसरी वस्तु नहीं है। लीला में ये एक—मूल वस्तु—ही असंख्य रूपों में परिणत हुए हैं। जहाँ एक है, वहाँ कोई बात ही नहीं; किन्तु जहाँ लीला है; अर्थात् अनन्त कोटियाँ हैं,

बात वहीं है। लीला-कथा के प्रसंग में मैं आत्मा, परमात्मा, भगवान्, शक्ति, माया, मन, बुद्धि आदि जो कुछ भी क्यों न कहूँ, तुम समझ लो कि यह रामकृष्णदेव के सिवाय और कुछ भी नहीं। अवस्था-भेद से, गुण-भेद से, नाम-भेद से और वृत्ति-भेद से यह एक वस्तु ही लीला में अनन्त प्रकार से अनन्त हुई है। इसीलिए लीला के प्रसंग में इस एक वस्तु को ही विभिन्न नामों से कहना होता है। इस संसार में केवल एक के ही विभिन्न रूप हैं। वह क्यों, जानते हो? एक सामान्य उपमा लें—जैसे एक लकड़ी का कारखाना। कारखाने में मूल उपादान है केवल लकड़ी। इस एक लकड़ी से ही विभिन्न वस्तुएँ बनी हैं, जैसे—मयाल, तख्त, दरवाजा, अलमारी, खाट, सन्दूक, डब्बा, डिबिया, जहाज, खिलौना इत्यादि इत्यादि। जहाँ केवल लकड़ी है, वहाँ अनेकता नहीं है और इसलिए कोई वर्णन भी नहीं। वर्णन में केवल एक ही बात है—लकड़ी। जहाँ कारखाना है, वहीं अनेक प्रकार हैं और उनके विभिन्न नामों के लिए विभिन्न बातें हैं। कारखाने में लकड़ी की वस्तुएँ आकार, प्रकार, अवस्था, प्रकृति में अलग-अलग दीखती अवश्य हैं, पर उन सबके भीतर वही एक लकड़ी है अथवा सभी उसी एक लकड़ी से बनी हुई हैं। एक लकड़ी के कारखाने में नाना रूपों में परिणत होने के फलस्वरूप जिस प्रकार उस एक लकड़ी के ही विभिन्न नाम हुए हैं, उसी प्रकार अपने लीला-कारखाने में स्थूल, सूक्ष्म आदि विभिन्न प्रकार के विभिन्न रूपों में परिणत होने के कारण इन एक रामकृष्णदेव के ही विभिन्न नाम हुए हैं। सृष्टि में सभी के बीच ये वही

एक रामकृष्णदेव हैं अथवा सभी उन एक रामकृष्णदेव के उपादान से ही गठित हैं।

यहाँ एक गीत सुनो--

हरे रामकृष्ण बोलो, रामकृष्ण बोलो मन।
रामकृष्ण मेरे भुवनचन्द्र करें प्रकाश त्रिभुवन।।
जो राम जो कृष्ण वे ही यही रामकृष्ण,
हैं विश्वगुरु वे जगत् के वे इष्ट।
स्पष्ट देखा और पढ़ा है श्रीअंगों में यह लेखन।।
पाकर उनको देखेगा तू, वे ही साकार वे निराकार,
सबके भीतर आत्मरूप से वे ही चेतन वे ही जड़।
कारणों के भी हैं वे ही महाकारण।।
कौन रामकृष्ण कहाँ के वे, काम तेरा क्या यह विचारके,
बिन्दु सा आधार तेरा, सिन्धु को क्या वह धरे।
जाएगा यदि भवपार, भज ले अभय चरण।।

वही एक परमात्मा विराट्रूप में, बाहर अनेक हुए हैं। यह अनेकत्व एक ही प्रकार का नहीं है, बल्कि आकार, वर्ण, गुण और प्रकृति सबको लेकर भिन्नता है। वे इस प्रकार अनन्त हुए हैं कि किसी की सामर्थ्य नहीं जो समझे कि यह सब एक ही वस्तु है और एक का ही खेल है। इस एक वस्तु को ही हम विभिन्न नामों से पुकारते हैं। वही परमात्मा है, वही जीवात्मा है, वही मन आदि है। वही कभी घोड़ा है, तो कभी सवार। तुम्हारे थियेटर के दक्ष-यज्ञ नाटक में भूत सजते हैं, जानते हो तो? जो सजते हैं वे मनुष्य हैं, हाथ-मुँह-देह में स्याही लगाकर भूत बनते हैं। उसी प्रकार आत्मा देह में मैल लगाकर मन बनकर मन का खेल खेलता है। फिर यही कई प्रकार की उपाधि धारण कर जीवात्मा के रूप में रहता

है। ये सारे खेल रामकृष्णदेव के गुप्त खेल हैं। वे यदि न दिखाएँ तो किसी में सामर्थ्य नहीं जो देख पाये। यह तो अब सुन लिया कि सब एक का ही खेल है, फिर प्रत्येक को ही अलग-अलग रूप से देख पाते हैं। देही के रूप में वे एक रूप से हैं, फिर मन के रूप में उसी के साथ अन्य एक रूप से हैं; फिर वे ही और एक अन्य रूप होकर दोनों को अलग देखते हैं। अद्‌भुत खेल है!

पाठक—देही के साथ मन किस तरह से है? और मन तथा देही को जो अलग रूप से देखता है, वह कौन है?

भक्त—मन देही के साथ किस प्रकार है जानते हो? जैसे दूध के साथ जल अथवा घी रहता है।

मन और देही को जो भिन्न वस्तु के रूप में देखता है, वह जानते हो, कौन है? वह वही देही है। वह अपने को स्वयं ही देखता है। वह इतने दिनों तक मन को साथ लेकर उसकी देह में कीचड़ मलकर खेल रहा था, अब वह खेल बन्द कर, देह का कीचड़ धोकर, मन को निर्मल बना, उसके भीतर से अपने को स्वयं ही देखता है। यह भी उसका एक प्रकार का खेल है।

जब वह अपने आपको स्वयं ही देखता है, तब उस देखने को साधुगण आत्मदर्शन कहते हैं। यह दर्शन मन को साथ लेकर ही होता है। अब मन के इन्द्रियरूपी घोड़े और नहीं रहते। यहाँ पर एक मजे की बात सुनो—वह जो एक 'मैं' जो आजीवन 'मैं'-'मैं' करता हुआ शोर मचा रहा था, इस समय ऐसा भागता है कि उसकी छाया तक दिखायी नहीं पड़ती। तीनों लोकों में खोजने पर भी तुम उसे कहीं देख नहीं पाओगे।

पाठक—आपके कथनानुसार आत्मदर्शन का अर्थ है—

जीवात्मा का स्वरूप-दर्शन। अच्छा यह दर्शन क्या नेत्रों द्वारा होता है ?

भक्त—नहीं, अनुभूति द्वारा।

पाठक—यह दर्शन साकार होता है या निराकार ?

भक्त—वह कैसा दीखता है यह मुंह से बोल नहीं पाऊँगा। फिर भी उस समय की अवस्था का आभास दे सकता हूँ। जो लोग यह दर्शन करते हैं, उनकी उस समय अवस्था कैसी होती है जानते हो ? जैसे एक व्यक्ति गाँजे का दम लगा जड़ बना बैठा रहता है। यहाँ पर मन के घोड़े का खेल एकदम बन्द हो जाता है। मानो वह खेल कभी था ही नहीं। यहाँ पर सुख-दुःख, अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं रहता। यह राज्य परमशान्ति का राज्य है, चाहे वह जितनी भी देर के लिए क्यों न हो।

पाठक—इस अवस्था में भगवान् को किस प्रकार देखते हैं ?

भक्त—ठाकुर कहते थे, एक बार राम ने हनुमान् से पूछा—हनुमान्, तुम मुझे किस रूप में देखते हो ? हनुमान् ने कहा—हे राम, मैं तुम्हें कभी विराट् अग्नि के रूप में देखता हूँ और दखता हूँ कि मैं उसकी एक चिनगारी हूँ। कभी देखता हूँ कि तुम प्रभु हो और मैं तुम्हारा दास हूँ। फिर कभी देखता हूँ, तुममें मुझमें कोई भेद नहीं है। यहाँ पर भगवान् महाग्नि के रूप में दिखते हैं।

पाठक—जीवन्मुक्त अवस्था में मनुष्य संसार में किस प्रकार रहता है ?

भक्त—वह संसार में उतराता फिरता है। उसके भीतर पानी घुस नहीं पाता। वह संसार के सुख-दुःख से चंचल नहीं होता, वह ध्रुवतारारूपी भगवान् से लक्ष्यच्युत नहीं

होता। उसका शरीर जिधर भी क्यों न जाए, उसका मन कम्पास के काँटे की भाँति भगवान् के पादपद्मों की ओर लगा रहता है। यह परम शान्ति की अवस्था है। भगवान् की अपार कृपा न होने से मनुष्य इस अवस्था को पा नहीं सकता। जीवन्मुक्ति की इस अवस्था में 'मैं' सम्पूर्ण रूप से जाता नहीं, थोड़ा-सा बच रहता है, परन्तु वह मृत 'मैं' के रूप में।

पाठक—रामकृष्णदेव के प्रति यदि सोलहों आना मन देने से ही सब जंजाल मिट जाय, तो मन को शीघ्रता से उनके प्रति किस प्रकार लगाया जाय ? इसका उपाय क्या है ? अभी तो मन को देखता हूँ वह ठीक मक्खी के समान मधु पर भी बैठता है और फिर मैले पर भी।

भक्त—पहले तो वह एक बार भी मधु के पास नहीं जाता था, केवल मैले पर ही रहता था। अब जिनकी कृपा से मधु का स्वाद पाया है, उनकी ही कृपा से समय होने पर मधुमक्खी के समान स्वभाव पाकर हमेशा मधु पर ही बैठेगा। तुम अभी उनको पकड़े रहो। उससे ही सब कुछ हो जायगा। ठाकुर एक गीत गाते थे—

हरि से लागि रहो रे भाई।
तेरो बनत बनत बनि जाई॥
रंका तारे बंका तारे तारे सदन कसाई।
सुवा पढ़ावत गनिका तारे तारे मीराबाई॥
दौलत दुनिया माल खजाना, बधिया बैल चराई।
जबहि काल को डंका बाजै, खोज खबर नहिं पाई॥
ऐसी भक्ति करो घट भीतर, छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बंदगी और अधीनता सहज मिलै रघुराई॥

ठाकुर और एक सुन्दर उपमा देते थे। बरसात में

मैदान एकदम डूब जाता है, तब मैदान देखने में नहीं आता। मैदान मानो तालाब हो गया हो। अब मैदान क्या करे? वह दिनरात आकाश की ओर निहारता चुपचाप पड़ा रहता है। समय होने पर देखता है जिस जल ने उसे डुबा रखा था, वह जल अब नहीं है। सब सूख गया है। तुम भी उसी प्रकार रामकृष्णदेव के मुख की ओर निहारते बैठे रहो, समय होने पर देख पाओगे कि काम-कांचन के जिस रस ने तुम्हारे मन को डुबाये रखा था, वह अब नहीं है।

ठाकुर और एक बात कहते थे--हे जीव, तुम्हारे दो हाथ हैं, एक को भगवान् के पादपद्मों में रखो और दूसरे को संसार में। जिसका जोर ज्यादा होगा, वह खींच लेगा।

(क्रमशः)

○

जिस प्रकार बालक एक हाथ से खम्भा पकड़कर जोरों से गोल-गोल घूमता है—उसे गिर पड़ने का डर नहीं होता—उसी प्रकारईश्वर को पक्का पकड़कर संसार के सभी काम करो, इससे तुम विपत्ति से मुक्त रहोगे।

—श्रीरामकृष्ण

मानस-रोग (३/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर विगत पाँच वर्षों से प्रवचनमाला प्रदान करते आ रहे हैं। प्रस्तुत लेख उनके तीसरे प्रवचन का उत्तरार्ध है। इस प्रवचनमाला की पाँच किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले पाँच अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

अब, जैसा कि हम कह चुके हैं, अहंकार आदि दुर्गुणों को रोगों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है और राक्षसों के रूप में भी। नारदजी के सन्दर्भ में अहंकार एक रोग है, वह डमरुआ है। 'विनय-पत्रिका' में अहंकार राक्षस के रूप में—कुम्भकर्ण के रूप में प्रस्तुत हुआ है—'मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार' (५८।४)। कुम्भकर्ण का नाम ही कान का संकेत देता है और ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है कि सम्भवतः उसके अन्य अंग-प्रत्यंग उतने लम्बे-चौड़े नहीं थे, जितने कि उसके कान। लेकिन उसके डीलडौल का जो वर्णन किया गया है, उसमें बताया गया है कि उसका पूरा का पूरा शरीर ही पर्वताकार था। तो फिर उसका नाम 'पर्वताकार' या 'अतिकाय' रख दिया जाता। पर वह न रख 'कुम्भकर्ण' रखा। इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि वैसे तो अहंकारी व्यक्ति हर दृष्टि से अपने को बड़ा दिखाने की चेष्टा करता है, पर उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता उसका कान है। वह कान से अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है।

फिर, कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में और एक संकेत प्राप्त होता है। जब वह भगवान् राम के सामने लड़ने आया, तब वह गर्जना कर रहा था। भगवान् राम ने अपने तरकस से बाण निकाले और कुम्भकर्ण के मुँह को भर दिया। तो, कुम्भकर्ण को मारने से पहले उसके मुँह को भर देने का वर्णन है। रावण को मारने से पहले उसका मुँह भगवान् बन्द नहीं करते। मेघनाद के वध से पहले उसका भी मुँह बन्द नहीं किया जाता। पर कुम्भकर्ण के वध के सन्दर्भ में गोस्वामीजी लिखते हैं—

सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा।
काल त्रोन सजीव जनु आवा।। ६।७०/३

—'कुम्भकर्ण मुख में बाण भरे हुए प्रभु के सामने दौड़ा, मानो कालरूपी सजीव तरकस ही आ रहा हो।' इससे न तो वह बोल सकता था, न गर्जना कर सकता था। तब—

धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा। ६।७०।४

—'भगवान् श्री राम ने उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया।'

इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या है? वर्णन आता है कि सुग्रीवजी कुम्भकर्ण के कान और नाक पर पहले ही प्रहार कर चुके थे—'काटेसि दसन नासिका काना' (६।६५।६)। वे ही कुम्भकर्ण को भगवान् की ओर ले आते हैं और इस प्रकार उसके वध का निमित्त बनते हैं। फिर बालि के वध में भी सुग्रीवजी की ही भूमिका होती है। इसका अर्थ क्या? बालि और कुम्भकर्ण दोनों अहंकार के प्रतीक हैं। यदि बालि राजसिक अहंकार का प्रतीक है तो कुम्भकर्ण तामसिक अहंकार का। इन दोनों के वध में सुग्रीव के

निमित्त बनने का तात्पर्य यह है कि सुग्रीव के चरित्र में भले ही अन्य दूसरे दोष रहे हों पर उनके जीवन में अभिमान कभी नहीं आया। जब भगवान् ने बालि पर बाण से प्रहार किया और बालि गिर पड़ा, तो उन्हें सामने देख उसने पूछ लिया—आपने सुग्रीव में ऐसा क्या देखा जो उसे संरक्षण दिया और मुझमें ऐसी क्या कमी देखी जो मुझ पर आपने प्रहार किया? इस पर भगवान् राम बोले—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना (४।८।९)

—'मूढ़, तुझे अत्यन्त अभिमान है।' फिर आगे कहते हैं—

मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।
मारा चहसि अधम अभिमानी ।। ४।८।१०

—'सुग्रीव को मेरी भुजाओं के बल का आश्रित जानकर भी अरे अधम अभिमानी, तूने उसको मारना चाहा!'

कहने का तात्पर्य यह कि बालि और कुम्भकर्ण दोनों अहंकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुग्रीव निरहंकारी जीव है। वह अपने में अहंकार को मारने की क्षमता नहीं पाता, इसलिए वह भगवान् की शरण में चला आता है, उनका आश्रय लेता है। तब भगवान् बालिरूप अहंकार का नाश करते हैं। जब बालि के अहंकार का नाश हो गया, तब भगवान् राम उससे कहते हैं—

अचल करौं तनु राखहु प्राना (४।९।२)

—'मैं तुम्हारे शरीर को अब अचल कर देता हूँ, तुम प्राणों को रखो।' अब तुम जीवित रह सकते हो। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर केवल पुण्य और सत्कर्म के लिए, केवल व्यवहार के लिए 'मैं' की स्वीकृति है, उसमें कोई आपत्ति नहीं, पर अहंकार का रजोगुण नष्ट हो जाना चाहिए—यह भगवान् राम का संकेत है।

सुग्रीव इस अहंकार के नाश में जो निमित्त बनते हैं, उसका और भी एक कारण है। सुग्रीव को 'विनय-पत्रिका' में ज्ञान का प्रतीक माना गया है—'ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधिसेतू' (५८।८), और 'रामचरितमानस' में सच्चे ज्ञान की यह कसौटी बतायी गयी है कि वहाँ अभिमान का लेश भी नहीं रहता—'ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं' (३।१४।७)। अतएव सुग्रीव में निरभिमानिता है। जब वे राज्य पाकर विषय-भोगों में रम जाते हैं और भगवान् राम के कार्य को भुला देते हैं, तब बाद में लक्ष्मणजी के भेजे जाने पर वे उनके साथ भगवान् की शरण में आते हैं। उस समय वे क्षमायाचना के स्वर में जो कुछ कहते हैं, उससे उनकी निरभिमानिता प्रकट हो जाती है। वे कहते हैं—

> नारि नयन सर जाहि न लागा।
> घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
> लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया।
> सो नर तुम्ह समान रघुराया।। ४।२०।४-५

—'हे नाथ, स्त्री का नयन-बाण जिसको नहीं लगा, जो भयंकर क्रोधरूपी अँधेरी रात में भी जागता रहता है अर्थात् क्रोध से अन्धा नहीं होता, तथा लोभ की फाँसी से जिसने अपना गला नहीं बँधाया, हे रघुनाथजी, वह मनुष्य आप ही के समान है।'

इस पर भगवान् राम कहीं उनसे यह न कह दें कि तुम तो मेरे मित्र हो, और मित्र तो मित्र ही के समान होता है, अतः तुम पर भी इन सब बातों का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, सुग्रीव आगे कहते हैं—

यह गुन साधन तें नहिं होई।
तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।। ४०।२०।६

—ये गुण मनुष्य को साधना से नहीं मिलते और न मात्र आपको मित्र बना लेने से ही मिलते हैं। आप जिस पर कृपा करते हैं, उसी के जीवन में ये गुण आते हैं। यह तो आप पर है, प्रभो, कि आप चाहें तो किसी को अपने समान बना ले सकते हैं। वैसे तो—

बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी ।।४।२०।३

—देवता, मनुष्य और मुनि सभी विषयों के वश में हैं। फिर मैं तो पामर पशु और पशुओं में भी अत्यन्त कामी बन्दर हूँ। मेरा जीवन ही दोषों से भरा हुआ है। आपने मुझ-जैसे व्यक्ति को अपनी शरण में लिया यह आपकी करुणा है। मेरे जीवन के दोष यदि दूर हो सकते हैं तो आपकी कृपा से ही।

भगवान् श्री राम सुग्रीव की बात सुन और उनकी निरभिमानिता देख इतने प्रभावित हुए कि वे तुरन्त कह उठे—

तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई (४।२०।७)

—'तुम मुझे भरत के समान प्यारे हो!' अब यह पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य होता है। कहाँ दोषशून्य भरत और कहाँ दोषों से भरे हुए सुग्रीव! और भगवान् हैं जो दोनों की एक धरातल पर तुलना कर रहे हैं। पर प्रभु का तात्पर्य यह है कि सुग्रीव, तुम्हारे जीवन में अभिमान का लेश नहीं है और भरत के जीवन में भी अभिमान का सर्वथा अभाव है। भले ही और बातों में तुम दोनों की बराबरी न हो सके, पर इस निरभिमानिता में तो दोनों बराबर हो ही। इस

प्रकार सुग्रीव अपने समर्पण, अपनी अभिमानशून्यता के द्वारा भगवान् राम की दृष्टि में भरत के समान स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

कुम्भकर्ण के सन्दर्भ में हमने कहा कि उसके कान घड़े की तरह हैं। क्या तात्पर्य? वर्णन आता है कि रावण जब कुम्भकर्ण को जगाता है, तब उसके लिए शराब मँगाता है, और वह भी घड़े में। आधुनिक युग में तो शराब बोतलों में बिकती है, पर कुम्भकर्ण के लिए शराब घड़ों में आती है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

रावन मागेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक (६।६३)

—'रावण ने करोड़ों घड़े शराब और अनेकों भैंसे मँगवाये।' कुम्भकर्ण के सामने शराब के घड़े और भैंसे रख दिये गये। उसने भैंसे खा लिये और शराब पी ली। इसका संकेत यह है कि अहंकारी व्यक्ति प्रशंसा की शराब पीने के लिए कान के घड़े खोले रखता है। कुम्भकर्ण केवल बाहरी सुरा ही नहीं पी रहा है, अपितु अपने कर्णकुम्भ से रावण द्वारा परोसी जानेवाली अपनी स्तुति-सुरा का भी पान कर रहा है। रावण कह रहा है—यदि मैं अपने जीवन में किसी पर विश्वास करता हूँ तो केवल तुम्हीं पर। लंका में इतने सारे योद्धाओं के होते हुए भी वे वानरों की शक्ति को विनष्ट नहीं कर पा रहे हैं। जब आधे राक्षस मारे गये, तब मैंने तुम्हारा आश्रय लिया, आकर तुम्हें जगाया। और इस प्रकार कह-कहकर वह कुम्भकर्ण के कान में प्रशंसा की सुरा भरने में समर्थ हो जाता है।

वैसे तो रावण बड़ा असहिष्णु था। कोई उसे समझाने की चेष्टा करता तो उसे क्रोध आ जाता। विभीषण ने उसे समझाया तो क्रोधित हो उठा। उसी प्रकार माल्यवान् के

समझाने पर भी वह कुपित हो उठा । पर दो व्यक्ति ही ऐसे थे, जिनके द्वारा फटकारा जाने पर भी उसे क्रोध नहीं आया । एक थी शूर्पणखा और दूसरा था कुम्भकर्ण । यह रावण के जीवन का बड़ा विचित्र दर्शन है । माल्यवान् ने केवल विभीषण की बात का समर्थन ही किया था कि जानकीजी को ससम्मान वापस लौटा देना ही उचित होगा । सुनते ही रावण उबल पड़ा—

रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ ।
दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ।।५।३९।३

—'ये दोनों मूर्ख शत्रु की महिमा बखान रहे हैं । यहाँ कोई है ? इन्हें दूर करो न !' रावण को लगा कि वे दोनों शत्रु से आकर्पित जान पड़ते हैं । और वही उसके क्रोध का कारण था । पर कुम्भकर्ण की फटकार को उसने सहज रूप में लिया, क्योंकि रावण जानता था कि कुम्भकर्ण कितनी ही ऊँची बात क्यों न करे, वह अन्त में लड़ेगा तो मेरी ही ओर से । ऊँची-ऊँची बात करने के बाद भी यदि व्यक्ति को अन्त में मोह का ही साथ देना है, तो वाणी के ऐसे चमत्कार की कोई सार्थकता नहीं । वाणी का यह चमत्कार जैसे कुम्भकर्ण में दिखायी देता है, वैसे ही बालि में भी । जब तारा ने बालि को समझाया कि आप लड़ने के लिए मत जाइए, सुग्रीव का जिनसे मिलन हुआ है, वे बलवान् हैं, तो बालि ने बड़ी ऊँची बात कही—"अरे, तुम उनको बलवान् कहती हो ! वे बलवान् थोड़े ही हैं, वे तो साक्षात् ईश्वर हैं !" सुनकर तारा ने बालि के चरण पकड़ लिये । बोली, "मैं तो सुग्रीव के साथी को मात्र बलवान् समझकर ही आपको रोक रही थी, पर आपका ज्ञान तो मेरे से भी ऊँचा है । जब आप उनको ईश्वर के रूप में पहचानते हैं, तब तो

आपको यह काम और भी नहीं करना चाहिए, जो आप उत्तेजना में लड़ने के लिए चले जा रहे हैं।" यह सुनकर वालि कह उठा–

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ (४।७)

—"तारा, तुम भीरु हो ! तुम ईश्वर का लक्षण नहीं जानतीं, इसीलिए तुम भयभीत हो। ईश्वर समदर्शी होता है। रघुनाथजी ईश्वर हैं, इसलिए वे मुझमें और सुग्रीव में भेद नहीं करेंगे !"

क्या भगवान् राम सचमुच सम हैं? वे तो अपने समत्व का खण्डन इससे पूर्व कर चुके हैं। जब हनुमान्‌जी उनसे पहली बार मिले, तो उन्होंने कह दिया—"हनुमान्, तुम मुझे बहुत प्रिय हो।"

"कितना प्रिय हूँ, महाराज?"—हनुमान् का प्रश्न था।

"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना" (४।२।७)—तुम मुझे लक्ष्मण से भी दूने प्यारे हो," —भगवान् का उत्तर था।

"प्रभु, आपके यहाँ भी दूना-चौगुना होता है क्या ?"—हनुमान्‌जी ने आश्चर्य में भरकर पूछा, "यही कह देते कि तुम लक्ष्मण के समान प्यारे हो, तो भी शिष्टाचार की बात पूरी हो जाती। यह दूना कहने की क्या आवश्यकता थी ?"

"हनुमान्, मैं यही बताना चाहता हूँ कि मैं वह ईश्वर जो सम था, अब नहीं रह गया हूँ। अब मुझमें बदलाव आ गया है। इस बदले हुए स्वभाव का परिचय देने के लिए ही मैंने दूना कह दिया। भले ही सब लोग कहते रहें कि मैं समदर्शी हूँ, पर मुझको सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्य-गति होता है—मुझे छोड़कर उसका कोई दूसरा सहारा नहीं होता। मैं तो भक्त का पक्ष लेने के लिए ही अवतार

लेता हूँ--

समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ।।" ४।२।८

--यह भगवान् राम का उत्तर था।

भगवान् के कथन का तात्पर्य यह है कि यदि मैं समदर्शी बना रहूँगा, तो लोग मेरा भक्त क्यों बनना चाहेंगे? यदि ईश्वर भक्त और अभक्त दोनों के प्रति सम रहे, तो भक्ति में फिर किसको आकर्षण रहेगा? कोई भक्ति करे और ईश्वर ज्यों का त्यों सम बना रहे, यह तो उचित बात नहीं दिखती।

पर बालि था, जो पुराना भाषण दिये जा रहा था कि ईश्वर समदर्शी है। तारा ने उसे टोककर कहा--"पर उन्होंने तो सुग्रीव को अपना मित्र बनाया है, स्पष्ट है आपको मित्र नहीं बनाया, फिर भी उन्हें आप समदर्शी कहे जा रहे हैं!"

"तो क्या हुआ?"--बालि बोला, "बहुत हुआ तो वे क्या करेंगे?--'जौं कदाचि मोहि मारहिं' (४।७)--यही न कि मुझे मारेंगे? ईश्वर तो सर्वसमर्थ है। काल उसके हाथ का शस्त्र है। यदि वे मुझे मार देंगे, तो भी कोई बात नहीं। तब तो मैं 'तौ पुनि होउँ सनाथ' (४।७)--सनाथ हो जाऊँगा।"

बालि कितनी ऊँची बात कहता है! वह ईश्वर के समत्व की जो बात कहता है, उसे पढ़कर ऐसा लगता है कि वह कितना ऊँचा ज्ञानी है। फिर उसके दूसरे वाक्य को पढ़कर लगता है कि वह बहुत ऊँचा भक्त भी है। कहता है--अभी तक तो अनाथ था, यदि भगवान् मुझे मार देंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा! तुलसीदासजी को तो बालि

का यह कथन सुनकर प्रसन्न हो जाना चाहिए था। वे उसे ज्ञानी कह देते या फिर भक्त ही। पर वे यह कुछ नहीं कहते। उनकी व्यक्ति को कसने की कसौटी बड़ी कठिन है। जब बालि तारा को समझाकर चलने लगा, तब किसी ने गोस्वामीजी से पूछा—"भाई, यह जो बालि जा रहा है, उसे ज्ञानी कहें या भक्त?" गोस्वामीजी बोल उठे—"नहीं, नहीं, न वह ज्ञानी है, न भक्त।" "तो फिर वह कौन चला जा रहा है?"—उसने पूछा। गोस्वामीजी कहते हैं—

अस कहि चला महा अभिमानी (४।७।१)

—"वह महा अभिमानी जा रहा है।"

"आप उसे महा अभिमानी कहते हैं, गोस्वामीजी, पर उसकी वाणी से तो ज्ञान और भक्ति टपकती है!"—वह व्यक्ति बोला।

"तुम वाणी ही क्यों देखते हो? जरा उसका आचरण भी देखो न। उससे समझ जाओगे कि न तो वह भक्त है, न ज्ञानी; है वह असल में महा अभिमानी।"

इस प्रकार गोस्वामीजी हमारा ध्यान बालि के आचरण की ओर आकृष्ट करते हैं। क्या बालि नहीं समझता कि सुग्रीव ने उसे जो अभी चुनौती दी, उसके पीछे साक्षात् भगवान् हैं? वह तो सुग्रीव को तिनके की तरह तुच्छ मानता था। सुग्रीव उसके डर से मारा मारा फिरता रहता था। जिस सुग्रीव को वह तिनके के समान मसल दे सकता है, वही आज उसे चुनौती देता हुआ गर्ज रहा है। बालि को समझ जाना था कि सुग्रीव ईश्वर के बल से बली होकर ऐसा कर रहा है। यह तो ईश्वर का ही चमत्कार होता है कि वह तृण को भी वज्र बना देता है और वज्र को तृण—'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई' (६।३४।८)। बालि

को यह समझ लेना था कि ईश्वर के चमत्कार से ही आज तिनके के समान सुग्रीव वज्र के समान गर्ज रहा है। यदि वह सचमुच का भक्त होता, तो ईश्वर का यह चमत्कार देख उसके मन में ईश्वर के प्रति समर्पण की वृत्ति आयी होती और वह सुग्रीव का गर्जन सुन भगवान् की महिमा का चिन्तन करते हुए उनके पास विनीत भाव से उपस्थित हो जाता। पर वह तो उलटा करता है। वह अन्तःकरण में महा अभिमान ले सुग्रीव को मजा चखाने के लिए निकल पड़ता है। इसीलिए भगवान् राम उसे 'अतिशय अभिमानी' कहते हैं।

कुम्भकर्ण की भी समस्या ऐसी ही है। वह भी बड़ी ऊँची-ऊँची बात करता है। अभिमानी व्यक्ति का यह एक लक्षण होता है—ऊँची बात करना; क्योंकि उससे प्रशंसा मिलती है। व्यक्ति जितनी ऊँची बात करेगा, उसे उतनी ही प्रशंसा मिलेगी। और अभिमानी का उद्देश्य तो प्रशंसा प्राप्त करना ही होता है। रावण ने जब कुम्भकर्ण को उठाया और उसे सब बात बतलायी, तो वह उपदेश के स्वर में रावण को फटकारते हुए बोला—

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान। ६।६२
भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा।
अब मोहि आइ जगाएहि काहा।।
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।
भजहु राम होइहि कल्याना।। ६।६२।१-२

—'अरे मूर्ख, जगज्जननी जानकी को हर लाकर अब तू कल्याण चाहता है? हे राक्षसराज, तूने अच्छा नहीं किया। अब आकर मुझे क्या जगाया? हे तात, अब भी अभिमान छोड़कर श्रीरामजी को भजो तो कल्याण होगा।'

कुम्भकर्ण कितनी ऊँची ऊँची बातें कर रहा है, पर रावण प्रभावित नहीं होता। उसकी बड़ी पैनी दृष्टि है। वह कुम्भकर्ण को अच्छी तरह पहचानता है। गोस्वामीजी मानस-रोग के प्रसंग में कहते हैं—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला (७।१२०।२९)

—मोह ही समस्त मानसिक रोगों के मूल में है। फिर लंका में वे दुर्गुणों का प्रतीक राक्षसों को मानते हैं और कहते हैं कि रावण मोह है तथा कुम्भकर्ण अहंकार। यों तो कुम्भकर्ण बड़ा शक्तिशाली है, पर रावण राक्षसों का राजा है। इसका तात्पर्य यह कि मोह ही समस्त दुर्गुणों के केन्द्र में है। तो, चाहे दुर्गुणों को रोग मानें या राक्षस, मोह ही सबके मूल में है। यह मोह अहंकार की प्रकृति से अच्छी तरह परिचित है, इसीलिए वह अहंकार की ईश्वर-भक्ति के प्रदर्शन से विचलित नहीं होता। रावण ने देखा कि कुम्भकर्ण उपदेश देते देते एक क्षण के लिए भगवान् के ध्यान में डूब भी गया। वह भगवान् राम के रूप और गुणों का स्मरण करने लगा—'राम रूप गुन सुमिरत' (६।६३)। अब इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है कि व्यक्ति भगवान् के रूप और गुणों का स्मरण करने लगे? पर गोस्वामीजी इसे बड़ी बात नहीं मानते। वे तो कुम्भकर्ण के इस ध्यान की प्रशंसा करने के बदले उस पर कटाक्ष ही करते हैं, कहते हैं—कितनी देर के लिए कुम्भकर्ण ध्यान में डूबा इसे तो देखो। हम लोगों को भी बड़ी जल्दी मिथ्याभिमान हो जाता है कि हम तो भगवान् के रूप और गुण का ध्यान करते हैं, स्मरण करते हैं। कहीं हम कुम्भकर्ण ही की तरह तो ध्यान में नहीं डूबते यह देखने की सलाह गोस्वामीजी देते हैं। कुम्भकर्ण कैसे डूबा था?—

राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक ।
रावन मागेउ कोटि घट मद अरु महिष अनेक ।। ६।६३

—वह बस एक क्षण के ही लिए भगवान् राम के रूप और गुण में डूबा और अगले ही क्षण शराब में डूब गया ! हमारे जीवन की यही विडम्बना है कि हम चौबीस घण्टों में एक क्षण तो भगवान् के ध्यान में डूबते हैं और शेष समय आत्म-प्रशंसा और आत्मविस्मृति की सुरा में डूबकर व्यतीत करते हैं । इसीलिए रावण को कुम्भकर्ण के इस प्रकार राम के रूप-गुण में डूबने से कोई चिन्ता नहीं होती । वह निश्चिन्त है कि भले ही कुम्भकर्ण राम के रूप और गुण में डूबे, पर वह साथ मेरा ही देगा ।

जब कुम्भकर्ण लड़ने जाता है, तब भी उसका अहंकार ही प्रदर्शित होता है । रावण ने उससे पूछा—तुम्हारे साथ कितनी सेना भेजें—कितने हाथी, कितने रथी, कितने घुड़सवार और कितने पदाति ? सुनकर कुम्भकर्ण हँसने लगता है, कहता है—सेना लेकर तो तुम लोग लड़ने जाया करो, मैं भला सेना लेकर जाऊँगा ? यहाँ पर भी वही अहं की बात है । कुम्भकर्ण को लगता है कि यदि मैं सेना लेकर जाऊँगा, तो जीत में बँटवारा हो जायगा, लोग सोचेंगे कि मैंने दूसरों की सहायता से लड़ाई जीती । पर अकेला जीतने से पूरा श्रेय मुझी को मिलेगा, उसमें और किसी का हिस्सा नहीं रहेगा ।

आध्यात्मिक दृष्टि से इसका तात्पर्य क्या है ? मोह अहंकार से पूछता है कि तुम विजय पाने के लिए कितने दुर्गुण-दुर्विचार लेकर जाओगे ? इस पर अहंकार कहता है कि बाकी अन्य दुर्गुण-दुर्विचार जब बहुत संख्या में आते हैं, तब कहीं वे व्यक्ति को परास्त कर पाते हैं, पर मैं तो

अकेले ही सबको हरा दूंगा। और सचमुच, व्यक्ति को हराने के लिए अकेला अहंकार ही काफी है।

तो, जब बन्दर कुम्भकर्ण को अकेला आते देखते हैं, तब बड़े प्रसन्न होते हैं। सोचते हैं अभी तक जितने सेनापति आये, बड़ी-बड़ी सेना लेकर आये, और यह तो अकेला आ रहा है, इसे तो अभी मारे लेते हैं। उन्होंने भगवान् राम से पूछने की आवश्यकता नहीं समझी और वे लोग लगे बड़े-बड़े वृक्ष और पर्वतखण्ड लेकर कुम्भकर्ण पर फेंकने। पर कुम्भकर्ण को तो ऐसा लग रहा था मानो कोई उसके शरीर को खुजला रहा हो। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में बन्दरों और भालुओं को विभिन्न 'कैवल्य साधनों के रूप में—सद्गुणों के रूप में निरूपित करते हैं। तात्पर्य यह कि ये जितने भी बन्दरों के प्रहाररूप साधन हैं, उनसे अहंकार मिटता नहीं; हाँ, अहंकार की कुछ खुजली अवश्य मिटती है। कुम्भकर्ण सारे बन्दरों को परास्त कर देता है। अहंकार सारे सद्गुणों को हरा देता है। तब सुग्रीव सामने आते हैं, मानो अहंकार के सामने ज्ञान आकर खड़ा होता है। कुम्भकर्ण सुग्रीव को भी मूर्छित कर देता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव।६।६५

बालि ने सुग्रीव को मुक्का मारकर केवल व्याकुल ही बनाया था, कुम्भकर्ण उन्हें मूर्छित कर देता है। ऐसा भयंकर अहंकार है यह कुम्भकर्ण! जब सुग्रीव की मूर्छा दूर होती है, तब वे भागते हैं। मैंने पूर्व में आपसे कहा था कि सुग्रीव भगोड़े हैं, पलायनवादी हैं, पर उनका पलायन समय पर और सही ढंग से होता है और वे भागकर बहुत बड़ा काम बना लेते हैं। वर्णन आता है कि जिस

समय कुम्भकर्ण मूर्छित सुग्रीव को बगल में दबाये ले जा रहा था, तब कुछ समय बाद उनकी मूर्छा टूटी—'सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती' (६।६५।५)। मूर्छा का टूटना एक बड़ी सफलता की बात है। पर सबसे बड़ी सफलता तो यह है कि मूर्छित ही नहीं होना, घायल ही नहीं होना। एक बार अहंकार के आघात से मूर्छित हो जाने पर फिर से चैतन्य हो जाना भी कोई कम सफलता की बात नहीं है। अभिमान के वशीभूत हो जानेवाले व्यक्ति को यदि अपना अभिमान दिखायी देने लगता है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उसे अपनी कमी दिखायी दे रही है, दोष पकड़ में आ रहा है। और यह दोष को दूर करने की सार्थक प्रक्रिया है।

सुग्रीव की मूर्छा ज्योंही दूर हुई, उन्होंने देखा कि वे कुम्भकर्ण की बगल में दबे हुए पड़े हैं। उनकी आँखों में आँसू आ गये। सोचने लगे—हाय, कहाँ मुझे भगवान् के चरणों में होना था और कहाँ मैं अहंकार की बगल में दबा पड़ा हूँ! इससे बड़ा मेरा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? और यह सोच वे अहंकार की पकड़ से छूटने का उपाय करने लगे। सुग्रीव ने सोचा कि मैं लड़कर तो कुम्भकर्ण को नहीं मार सकता, पर हाँ, कुछ खरोंच-वरोंच अवश्य लगा सकता हूँ। साधना से अहंकार निर्मूल तो नहीं होता, पर उसे कुछ खरोंच तो लग ही जाती है। हम पढ़ते हैं कि अहंकार के पंजे से छूटने के लिए सुग्रीव मुर्दे की तरह बन गये। उन्हें यह कला आती थी। मुर्दा अभिमानशून्य होता है। व्यक्ति की आप प्रशंसा कर दीजिए तो फूलकर कुप्पा हो जाता है और निन्दा कर दीजिए तो क्रोध से आग। पर मुर्दा ऐसा है कि चाहे आप प्रशंसा कीजिए या निन्दा, चाहे माला पहिनाइए या पत्थर से मारिए, उस पर कोई

प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए सुग्रीव ने अपने को शववत् बना लिया। इसका पहला लाभ तो उन्हें तत्काल मिल गया। कुम्भकर्ण ने जब देखा कि सुग्रीव दबकर मर गया है, तब पहले तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि मेरी जीत हो गयी, पर बाद में सोचने लगा कि इसे ढोकर ले चलें या नहीं। उसने निश्चय किया कि इसे लेकर नहीं जाएँगे, नहीं तो लंका वाले सोचेंगे कि यह मुर्दा ढोकर ला रहा है। मुझ-जैसे पराक्रमी वीर के लिए मुर्दा ढोना उचित नहीं मालूम होता। उसने सुग्रीव को नीचे फेंक देने के लिए हाथ उठा लिया। सुग्रीव नीचे गिरे और गिरते ही उछले। कुम्भकर्ण चौंक उठा—अरे ! यह क्या हुआ, यह तो चैतन्य है ! जब तक कुम्भकर्ण कुछ समझ पाए, सुग्रीव उछलकर उसकी नाक और कान काट लेते हैं—'काटेसि दसन नासिका काना' (६।६५।६), और फिर भगवान् के पास आते हैं—'पुनि आयउ प्रभु पहिं बलवाना' (६।६५।८) और आकर प्रभु का जय-जयकार करते हैं—'जयति जयति जय कृपानिधाना (६।६५।८)। यहाँ पर गोस्वामीजी एक संशोधन करते हैं, वे अब सुग्रीव के भागने की बात नहीं लिखते, पर लिखते हैं—'प्रभु के पास आये'।

कुम्भकर्ण अपनी नाक और कान के काटे जाने से अत्यन्त क्रोधित हो उठता है। अहंकार के ये दो केन्द्र होते हैं—एक नाक और दूसरा कान। अहंकारी हरदम ध्यान रखता है कि नाक न कटने पावे और वह कान से निरन्तर अपनी बड़ाई सुनना चाहता है। कुम्भकर्ण को लगा कि लंका में जब लोग मेरी नाक कटी देखेंगे और कानों को खण्डित, तो वे मुझ पर हँसेंगे। वह क्रोध में सुग्रीव को पकड़ने दौड़ता है, जिससे लंकावासियों को दिखा सके कि उसने

अपने आहतकर्ता का कैसा हाल बना रखा है। पर सुग्रीव आकर भगवान् राम के पीछे छिप जाते हैं। तब--

राम सेन निज पाछें घाली।
चले सकोप महा बलसाली ॥ ६।६९।६

—भगवान् राम ने सेना को अपने पीछे कर लिया और वे कुम्भकर्ण की ओर आगे बढ़े। वर्णन आता है कि कुम्भकर्ण को मारने के लिए भगवान् को कई बाण चलाने पड़े। बालि के वध के लिए उन्हें एक ही बाण की आवश्यकता हुई थी और परशुरामजी पर शासन करने के लिए तो एक भी बाण नहीं लगा था। इसका आध्यात्मिक अभिप्राय यह है कि परशुरामजी सात्त्विक अहंकार हैं। सात्त्विक अभिमान सत्संग से विनष्ट हो जाता है। भगवान् राम का परशुरामजी से जो वार्तालाप हुआ, उस सत्संग के प्रभाव से उनका अभिमान नष्ट हो गया। बालि राजसिक अहंकार का प्रतीक है। उसको नष्ट करने के लिए प्रभु को एक बाण चलाने की आवश्यकता हुई। प्रभु के बाण की चोट खाकर यह राजसिक अभिमान शिथिल हो गया और उसने प्रभु के चरणों में अपने को निवेदित कर दिया। पर कुम्भकर्ण तो तमोगुणी अहंकार है। वह एक बाण से नहीं मरता। वह जल्दी नहीं मिटता। उसे टुकड़े टुकड़े में काटकर नष्ट करना पड़ता है। इसीलिए भगवान् उस पर बहुत से बाणों की वर्षा करते हैं।

जब कुम्भकर्ण भगवान् की ओर आने लगा, तो उन्होंने दो बाण चलाकर उसकी दोनों भुजाएँ काट दीं। अहंकार की 'मैं' और 'मेरा' ऐसी दो भुजाएँ होती हैं। पर कुम्भकर्ण उससे भी नहीं रुका। वह गर्जना करता हुआ भगवान् की ओर दौड़ा और तब भगवान् ने उसका मुँह बाणों से भर

दिया। क्यों?——इसलिए कि उन्होंने निश्चय किया कि अहंकार को मुक्ति देनी है। भगवान् श्री राम का तात्पर्य यह था कि सुग्रीव ने तो इसकी नाक और कान काट दिये हैं, तो हमें चाहिए कि इसका मुँह भी बन्द कर दें। कारण यह है कि अहंकारी व्यक्ति पहले तो यह चाहता है कि कोई उसकी प्रशंसा करे। पर जब उसे प्रशंसा करनेवाला कोई नहीं मिलता, तब स्वयं अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा कर आनन्द का अनुभव करता है। इसीलिए भगवान् राम कुम्भकर्ण के मुँह को बाणों से भर देते हैं। उन्हें लगता है कि यदि उसकी वाणी खुली रही, तो मरते समय रावण की जय बोलकर अपनी वाणी का दुरुपयोग ही करेगा। इस प्रकार पहले अहंकार की नाक काट दी गयी, कानों पर प्रहार किया गया, फिर उसकी भुजाएँ काटी गयीं और अन्त में उसका मुँह ही बन्द कर दिया गया, जिससे उसमें न तो आत्म-प्रशंसा सुनने की इच्छा रहे, न वह अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू हो सके। तब कहीं जाकर अहंकार का नाश होता है। और जब कुम्भकर्ण मरा, तब क्या हुआ?

जब परशुरामजी का अहंकार दूर हुआ, तब उन्होंने अपना धनुष भगवान् राम को अर्पित कर दिया। बालि का अहंकार दूर हुआ तो उसने अपने प्राण अर्पित कर दिये। पर जब कुम्भकर्ण विनष्ट हुआ, तब——

तासु तेज प्रभु बदन समाना (६।७०।८)

——उसका तेज प्रभु के मुख में समा गया। इस प्रकार अहंकार की मुक्ति हुई।

तो, अहंकार का केन्द्र या तो कान है, जैसा कि कुम्भ-कर्ण के नाम से सूचित होता है, या फिर वह मुख है। अहंकार कान से प्रशंसा-रस पीना चाहता है या फिर मुँह से अपनी

प्रशंसा करना चाहता है, जैसा कि परशुरामजी के जीवन में दिखायी देता है। जब परशुरामजी लक्ष्मणजी के शब्दों से चिढ़कर विश्वामित्रजी से कहते हैं कि जरा इस लड़के को बताइए तो कि मैं कौन हूँ, तब लक्ष्मणजी कटाक्ष करते हैं—क्या आपको भी दूसरे भाषण देनेवाले की आवश्यकता है ? आप तो अकेले ही इस काम के लिए पर्याप्त हैं !—

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी।
वार अनेक भाँति बहु बरनी।।
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू।। १।२७३।६-७

—आप तो अपने ही मुँह से अपनी करनी अनेकों बार बहुत प्रकार से वर्णन कर चुके हैं। इतने पर भी सन्तोष न हुआ हो तो फिर कुछ कह डालिए। क्रोध रोककर असह्य दुःख मत सहिए ! आप स्वयं अपना इतना परिचय दे चुके हैं कि अब दूसरे से और न दिलवाइए।

तात्पर्य यह कि जहाँ भी अभिमान होगा, वहाँ व्यक्ति आत्मप्रशंसा सुनना चाहेगा और अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करेगा। नारदजी के जीवन में भी हमें यही क्रम दिखायी देता है। पहले उन्होंने काम से अपनी प्रशंसा सुनी और फिर उनके मन में कामारि से भी प्रशंसा सुनने की वृत्ति जाग उठी। अहंकारी व्यक्ति अपनी उपलब्धि का प्रचार चाहता है। इसलिए अपने मुँह से अपनी उपलब्धि सुनाने नारद शंकरजी के पास पहुँच गये। शंकरजी ने जब नारद को देखा तो बड़े प्रसन्न हुए। सोचा कि चलो रामकथा सुनने को मिलेगी अथवा कहने का अवसर प्राप्त होगा। नारदजी ने कहा कि महाराज, अबकी तो हमीं आपको कथा सुनाएँगे, और वे लगे सुनाने कथा। पर किसकी

कथा ?––

मार चरित संकरहि सुनाए (१।१२६।६)

––नारद ने मार की कथा सुनायी! पहले तो रामचरित सुनाया करते थे, अबकी उन्होंने मारचरित सुनाया! राम और मार में अक्षर तो वही रकार और मकार हैं, पर उल्टा-पल्टा है। तो, रामकथा की जगह मारकथा क्यों?––उसी प्रशंसा की भूख के लिए। और जैसा हमने पूर्व में कहा था, भगवान् शंकर नारद की प्रशंसा करने के बदले उन्हें सावधान कर देते हैं। सोचते हैं कि काम की प्रशंसा सुनकर इन्हें वैसे ही अजीर्ण हो रहा है, अब यदि मैं भी प्रशंसा कर दूं, तब तो इनका अजीर्ण बहुत बढ़ जायगा और अहंकार का डमरुआ भी प्रबल हो जायगा। किन्तु नारद शंकरजी की बात पर ध्यान नहीं देते, और जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा, वे भगवान् विष्णु के पास पहुँच जाते हैं।

भगवान् विष्णु नारद के अहंकार को देखते हैं। वे भक्त-प्रतिपालक हैं, भक्त के गर्व को दूर कर उसकी रक्षा करते हैं। वे निश्चय करते हैं कि नारद को अनुभव करा दूंगा कि आखिर उसे किस बात पर इतना गर्व है। नारद यही मानते थे न कि उन्होंने काम को––सुन्दरी के आकर्षण को जीत लिया है, लोभ को हरा दिया है, क्रोध पर विजय पा ली है, तो भगवान् निश्चय करते हैं कि नारद को इन्हीं तीन कसौटियों पर कसकर देखेंगे, जिससे नारद का अहंकार-ज्वर उतर जाय। वे नारद के लौटने के मार्ग में मायानगरी का निर्माण कर देते हैं। जब नारद विश्वमोहिनी का सौन्दर्य देखते हैं तो मुग्ध हो जाते हैं और जब उसका हाथ पकड़कर हाथ की रेखाएँ देखते हैं तो लुब्ध हो जाते

हैं। इस प्रकार नारद काम और लोभ दोनों के वश में हो जाते हैं। विश्वमोहिनी का अतुलनीय सौन्दर्य उनमें काम को अंकुरित कर देता है और उसके हाथ की रेखाएँ उनमें लोभ को जगा देती हैं। उन रेखाओं में नारद पढ़ते हैं—

जो एहि बरइ अमर सोइ होई।
समर भूमि तेहि जीत न कोई।।
सेवहिं सकल चराचर ताही।
बरइ सीलनिधि कन्या जाही।। १।१३०।३-४

—'जो इसे ब्याहेगा, वह अमर हो जायगा और रणभूमि में कोई उसे जीत न सकेगा। यह शीलनिधि की कन्या जिसको वरेगी, सब चर-अचर जीव उसकी सेवा करेंगे।'

भगवान् का संकेत यह है कि हो सकता है व्यक्ति कोई छोटी-मोटी वस्तु त्याग दे, पर जब बड़ी वस्तु को त्यागने का समय आता है, तब वह असफल हो जाता है। नारद भी इसी प्रकार अप्सराओं के आकर्षण से तो मुक्त रहते हैं, पर विश्वमोहिनी को देखकर इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि सब कुछ बिसर जाते हैं। वे स्वर्ग का लोभ तो छोड़ देते हैं, पर विश्वमोहिनी के हाथ में जो लिखा है कि इस कन्या से विवाह करनेवाले पुरुष की समस्त चर-अचर जीव सेवा करेंगे, इस लोभ को छोड़ नहीं पाते। अब स्वर्ग का सुख तो ऐसा है जो कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। अतः नारद को ऐसे नाशवान् स्वर्ग-सुख का जो लोभ नहीं हुआ, वह कोई उनकी लोभवृत्ति के नाश का सूचक नहीं है, क्योंकि हम पढ़ते हैं उन्हें विश्वमोहिनी की हस्तरेखा की बात लुब्ध कर लेती है। अपने उस लोभ के कारण वे हस्त-रेखा की बात को उलटा पढ़ लेते हैं। हस्तरेखा में ऐसा नहीं लिखा था कि जो व्यक्ति शीलनिधि की कन्या से ब्याह

करेगा, वह ब्याहने के फलस्वरूप अमर हो जायगा, रणभूमि में अजेय हो जायगा और सारे चर-अचर जीव उसकी सेवा करने लगेंगे। बल्कि उसमें तो यह लिखा था कि जो अमर होगा, रणभूमि में अजेय होगा तथा जिसकी सब लोग सेवा करते होंगे, वही शीलनिधि की कन्या को बरेगा। किन्तु नारद लोभ के आवेग में पूरी हस्तरेखा ही उलटी पढ़ लेते हैं। और जब नारद की विश्वमोहिनी को ब्याहने की इच्छा पूरी नहीं हुई, तब वे क्रोध से काँपने लगे। उन्हें उस समय काम पर क्रोध नहीं आया था, पर अब राम पर क्रोध करते हैं। इससे तो उचित था कि वे शंकरजी के समान काम पर ही क्रोध कर लेते।

तो, इस प्रकार भगवान् ने नारद को दिखा दिया कि उनके अन्तःकरण में सारे मनोरोग विद्यमान हैं और वे अवसर पाकर अंकुरित हो जाते हैं। अतएव व्यक्ति को मानस-रोगों के विजेता का मिथ्या गर्व नहीं पालना चाहिए। नारद को ज्योंही यह बात समझ में आती है, वे भगवान् के चरणों में गिर पड़ते हैं और आकुल हो पूछते हैं—प्रभु, दवा कहाँ मिलेगी ? शान्ति कैसे मिलेगी ? इस पर भगवान् विष्णु मुसकराकर कहते हैं—

जपहु जाइ संकर सत नामा (१।१३७।५)

—जाकर शंकरजी के शत नाम का जप करो। उन्होंने तुम्हें रोका था, पर तुमने उनकी बात न मानने का अपराध किया है। उस अपराध का मार्जन उनके नाम के जप करने से होगा और तुम्हारा कल्याण होगा।

इस प्रकार नारद-प्रसंग के माध्यम से यह बताया गया है कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट चरित्रवाला व्यक्ति भी यदि प्रमादवश अपने को विकारों का विजेता मान ले, तो वह

बड़ी भूल करता है, क्योंकि उसके भीतर वस्तुतः सारे विकारों के बीज विद्यमान हैं, जो कुपथ्य का जल पाकर कभी भी अंकुरित हो सकते हैं। इसीलिए काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो विकारशून्य होने का दावा कर सके। बुद्धिमत्ता इसमें है कि अपने भीतर के विकारों को पहचाना जाय और उन्हें दूर करने की चेष्टा की जाय।

(क्रमशः)

○

(गृहस्थ भक्तों के प्रति) तुम्हें रुपये की ओर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उससे दाल-रोटी मिलती है, पहनने के लिए कपडा और रहने के लिए मकान मिलता है, ठाकुरजी की पूजा और साधु-भक्तों की सेवा होती है। परन्तु धन-संचय करना व्यर्थ है। मधु-मक्खियाँ कितनी मेहनत से छत्ता तैयार करती है, पर कोई दूसरा ही आदमी आकर उसे तोड़ ले जाता है। स्त्री का पूरी तरह त्याग तुम लोगों के लिए नहीं है। परन्तु लडके बच्चे हो जाने पर पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह रहना चाहिए।

——श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) घट घट मेरा साइयाँ

एक बार गुरु नानक सिंहलद्वीप पहुँचे। तब उनके दर्शनार्थ लोगों का ताँता-सा लग गया। बात जब राजा शिवनाथ को मालूम हुई, तो उसने मध्य रात्रि के समय एक वेश्या को बुलाकर सन्त की परीक्षा लेने के लिए उनके पास भेजा। वह वेश्या सोलह शृंगार करके जब नानकदेव के पास गयी, तो वे उसके चरणों पर गिर पड़े और बोले, "प्रभु, आपने इतनी रात आने का कष्ट क्यों किया ?" वेश्या ने ये शब्द सुने, तो उसका सारा अभिमान चूर-चूर हो गया। उसे आत्मग्लानि हुई और वह चुपचाप वापस आ गयी। उसने राजा से सारा हाल सुनाया और कहा कि वे तो पहुँचे हुए सन्त हैं और उनके तेज के सामने टिक पाना असम्भव है। तब राजा ने सन्त के पास दूसरी वेश्याओं को भेजा, किन्तु वे भी भक्ति के रंग में रँगकर वापस आ गयीं।

तब एक दिन राजा स्वयं नानकदेव के पास गया और उसने उनसे प्रश्न किया, "गुरुदेव ! आप तो मनुष्य हैं, फिर किसी सुन्दर स्त्री को देखकर आपका मन विचलित कैसे नहीं होता ? क्या सौन्दर्य का आप पर कोई असर नहीं पड़ता ?" गुरु साहिब ने मुसकराकर कहा, "हाँ, मैं इन्सान ही हूँ और अन्य लोगों के समान सौन्दर्य का पुजारी भी, फिर सुन्दर वस्तु को देखकर आकर्षित क्यों नहीं हूँगा ? लेकिन वह सुन्दर वस्तु प्रभु की प्रतिमूर्ति होने के कारण उसे देख स्वभावतः मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है और उसके प्रति आदर भाव जागृत हो जाता है।" और उनके मुख से निम्न शब्द फूट पड़े—

काया महल मन्दर घर हरि का,
तिस महि रखी ज्योति अपार ।।
सर्व ज्योति तेरी पसरी रही,
जहाँ जहाँ देखा तहाँ नरहरि ।
आप नेडे आप दूरि आए,
सर्व रह्या भर पूरि ।।
सब महि जिऊ जिऊ है सोई,
घट घट रहिया समाई ।
गुरु प्रसाद घर ही प्रगटिया,
सहजे सहजि समाई ।।

(२) राम नाम अनमोल है

सन्त कबीरदासजी का जब काशी में वास था, तो एक बार एक राजा बहुत सा धन लेकर उनके पास आया। कबीरदासजी ने देखा तो चुपचाप बाहर निकल गये। लेकिन उनके पुत्र कमाल उससे मिले और राजा की अध्यात्मप्रियता देख उन्होंने गुरुमंत्र देकर उसे शिष्य भी बना डाला। तब राजा ने गुरुदक्षिणा के रूप में साथ में लाया धन उन्हें समर्पित कर दिया।

कबीरदासजी को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने कमाल को धिक्कारा, किन्तु कमाल पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। उन्होंने कबीरदासजी से कहा, "इस प्रकार धन लेने में कोई हानि नहीं है। मैंने धन लेकर 'रामनाम' को बेचा तो नहीं है। वैसे भी 'रामनाम' का कोई 'मोजो' (मूल्य) नहीं है। हाँ, इस धन का स्वयं उपयोग नहीं करूंगा, उसे दान में ही दे दूंगा, इसलिए मैंने कोई गलत काम नहीं किया है—

कबहु तो राम के नाम को, मोजो कछुवै आहि ।
तो मैं बेचा होइहै मोहि बतावहु ताहि ।।"

(३) प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई

सन्त धरनीदासजी पहले नवाब-जमींदारों के यहाँ दीवान-पद पर नियुक्त थे । जब इनके पिता का निधन हुआ, तो उनके शोक का पारावार न रहा और वे हमेशा उदास रहने लगे । एकाकीपन दूर करने के लिए उन्होंने भगवद्भजन का सहारा लिया और वे काम के समय में भी भगवच्चिन्तन में लीन रहने लगे ।

एक दिन वे जमींदारी के कागज देख रहे थे कि अकस्मात् समीप रखे लोटे का पानी उन्होंने कागजात पर उँड़ेल दिया । यह देख वहाँ उपस्थित लोग स्तम्भित रह गये । बात जब नवाब को पता चली, तो वे नाराज हो गये और उन्होंने जवाब-तलब किया । तब धरनीदासजी ने कहा, "बात यह थी कि पुरी में जगन्नाथ देव के कपड़ों में आग लग गयी थी और मैंने उसे बुझाना उचित समझा ।" यह विचित्र जवाब सुन नवाब को आश्चर्य हुआ और उसने दो सेवकों को सुदूर जगन्नाथपुरी भेजा । उन्होंने जब वापस आकर नवाब को बताया कि पुरी में जगन्नाथजी के वस्त्रों को सचमुच आग लग गयी थी और उसे एक व्यक्ति ने एक लोटे भर पानी से बुझा दिया था, तो नवाब बड़ा शर्मिन्दा हुआ । उसने सन्त से क्षमा माँगी, लेकिन उन्हें तो संसार से ही विरक्ति हो गयी थी, अतः उन्होंने उसी दिन नौकरी को त्यागकर स्वयं को भगवान् की सेवा में अर्पित कर दिया । इस घटना के सम्बन्ध में उनकी एक काव्य-पंक्ति द्रष्टव्य है—

'अब मोहि राम नाम सुधि आई ।'

(४) त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः

सन्त बुल्लेशाह पहले बलख के बादशाह थे। एक बार उनके दिल में इस नश्वर संसार के प्रति विराग उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने वजीरों से किसी पहुँचे हुए फकीर के पास ले चलने के लिए कहा। वजीरों ने उनसे काबुल चलने की विनती की। तब अपने पुत्र को गद्दी पर बिठाकर एवं कुछ लोगों को साथ लेकर वे लाहौर की ओर रवाना हुए।

मियाँ मीर जंगल में एक झोपड़ी बनाकर रहते थे। जब सेवकों ने बादशाह के आने की उन्हें सूचना दी, तो उन्होंने बादशाही ठाट-बाट वाले व्यक्ति से मिलने से इन्कार कर दिया। तब बादशाह ने सारा सामान गरीबों को बाँट दिया और फकीर-वेश धारण कर उनके पास गये। लेकिन मियाँ ने अब भी मिलने से अस्वीकार कर दिया और उनसे बारह वर्ष तक एक फकीर की सेवा करने के उपरान्त आने के लिए कहा। बादशाह को विरक्ति तो हो ही चुकी थी। वे सहर्ष उस फकीर के पास गये और बारह वर्ष तक उसकी निःस्वार्थ भाव से सेवा करके फिर मियाँ मीर के पास वापस आये, लेकिन अब उनका शरीर काफी सूख गया था, बाल बढ़ गये थे और शरीर पर झुर्रियाँ भी पड़ गयी थीं। मियाँ ने उन्हें शिष्य बनाकर उपदेश दिया और उनका नाम 'बुल्लेशाह' रखा।

(५) ऊँच कर्म ते स्वर्ग है

एक बार खलीफा हारू-अल-रशीद और उनकी बेगम जुबैदा में किसी बात पर बहस छिड़ गयी। बाद में वह इतनी बढ़ गयी कि बेगम ने गुस्से में आकर बादशाह से कहा, "तुम दोज़खी (नरकगामी) हो।" बादशाह को

ये शब्द चुभ गये और उन्होंने भी ताव में आकर कहा, "यदि मैं दोज़खी हुआ, तो मैंने तुम्हें तलाक दे दिया।" बाद में झगड़ा शान्त होने पर बादशाह विचार करने लगे, तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा कि मैंने यह क्या कह दिया—"अगर मैं दोज़खी हूँ, तो तलाक़ देता हूँ!" मतलब अगर दोज़खी न हूँ, तो तलाक का इतलाक (क्रियान्वयन) लाजिमी नहीं। इसलिए उन्होंने सभा बुलाकर इस बात पर फैसला देने की माँग की कि वे दोज़खी हैं या जन्नती। प्रश्न सुनकर लोग स्तब्ध रह गये। सभा में सूफी सन्त इमाम शाफी भी मौजूद थे। उन्होंने बादशाह से प्रश्न किया, "पहले यह बताओ कि मुझे तुम्हारी ज़रूरत है या तुम्हें मेरी?" "बेशक मुझे आपकी", खलीफा ने जवाब दिया। "तब तुम तखत से उतर जाओ", सन्त ने कहा, "क्योंकि बादशाह से उल्मा का रुतबा बड़ा होता है।" खलीफा नीचे उतर आये और उन्होंने सन्त को बाइज्जत तखत पर बिठाया।

तब सन्त ने उनसे कहा, "अब अपनी हाज़त (समस्या) बताओ।" जब खलीफा ने पूछा, "मैं दोज़खी हूँ या जन्नती?" तो इमाम ने प्रश्न किया, "क्या ऐसा भी कभी वक्त आया है, जब अल्लाह के खौफ़ के कारण आपने अपने को गुनाह करने से रोका है?" "हाँ, ऐसा मौका बेशक आया है," बादशाह ने जवाब दिया। तब सन्त ने फैसला सुनाया—"तुम जन्नती हो।"

यह निर्णय सुन दरबारी एवं अन्य लोग चकित रह गये। उन्होंने सन्त से प्रश्न किया, "आपके फतवे (फैसले) की दलील क्या है?" इस पर शाफी ने जवाब दिया, "जो शख्स गुनाह करने के रास्ते पर हो और खौफे-इलाही

(भगवान् के डर) की वजह से गुनाह नहीं करता, उसका घर जन्नत है।" और इसे सुन सबने उनके निर्णय की प्रशंसा की।

○

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (२)

वैधी पूजा की समाप्ति तक

स्वामी योगेशानन्द

(विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो, अमेरिका)

(लेखक ने श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का संकलन कर 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक में धारावाहिक रूप से ब्रह्मचारी बुद्धचैतन्य के नाम से प्रकाशित किया था। उसी लेखमाला को रामकृष्ण मठ, मद्रास ने The Visions of Sri Ramakrishna के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित किया है, जिसकी अनुमति से यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

गदाधर[१] चटर्जी नाम का एक छोटा सा बालक बंगाल में अपने गाँव के निकट धान के खेतों के बीच से होकर मेंड़ पर चला जा रहा था। उसे पता न था कि उसे समाधि अथवा ईश्वरीय चेतना की अनुभूति होने ही वाली है, जो कि आगे चलकर उसकी स्वाभाविक अवस्था बन जानेवाली है। बालक की आयु ठीक-ठीक कह पाना कठिन है, क्योंकि बाद में श्रीरामकृष्ण ने बताया था कि तब वे छः या सात वर्ष के थे, जबकि 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' ग्रन्थ के अनुसार उस समय उनकी आयु दस या ग्यारह वर्ष थी। वह जून या जुलाई का कोई एक सबेरा था, क्योंकि मानसून की शुरुआत अभी नहीं हुई थी। जैसा कि कामारपुकुर तथा उधर के अन्य गाँवों में रिवाज है, उस बालक के हाथ में नाश्ते के लिए मुरमुरे से भरी एक छोटी डलिया थी, जिसमें से निकाल-निकालकर वह खाता जा रहा था। इतने में क्षितिज पर एक बड़ा सा काला मेघ उठा तथा धीरे-धीरे उसने पूरे आकाश को छा लिया।

---

१. श्रीरामकृष्ण का बचपन का नाम।

अचानक श्वेत बगुलों का एक झुण्ड इन काले बादलों के बीच से उड़कर जाने लगा। इस विरोधाभास के सौन्दर्य ने भावुक स्वभाव के इस बालक को अभिभूत कर दिया और वह एक 'असाधारण भाव में डूबकर'[२] नीचे गिर पड़ा, उसके मुरमुरे के दाने चारों ओर बिखर गये।[३] बाद में उसे दूसरों ने बताया कि वह अचेत हो गया था तथा उसका शरीर गतिहीन। इस प्रसंग में एक बार श्रीरामकृष्ण ने कहा था—"ईश्वर-दर्शन के कुछ विशेष लक्षण हैं। ज्योति देखने में आती है, आनन्द होता है, हृदय के बीच में से गुर-गुर करके महावायु उठती है।" जीवन के अन्तिम दिनों में ठाकुर ने अपने निकटवर्ती लोगों को बताया था—"उस दिन से मैं एक दूसरी तरह का हो गया। अपने भीतर एक दूसरे व्यक्ति को देखने लगा।"

उनकी यह पहली समाधि हमारे मन में सौन्दर्यानुभूति तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच सम्बन्ध का रोचक प्रश्न उठाती है। यह घटना एक ओर जहाँ दिव्य आनन्द के उद्दीपन तथा उपलब्धि में मानवीय भावुकता की भूमिका की ओर संकेत करती है, वहीं दूसरी ओर यह अपनी गुणवत्ता तथा गहराई के द्वारा छिछले रोमांटिकवाद के प्रति भी आँखें खोलनेवाली है, जिसमें बहाये गये आँसू की प्रत्येक बूंद को सौन्दर्य के नाम पर अमरत्व की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

कामारपुकुर से दो मील उत्तर की ओर आनुड़ नामक

२. भगिनी देवमाता अपने अँगरेजी ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण' में कहती हैं कि इस दृश्य ने उन्हें गले में फूलों का हार पहने श्रीकृष्ण की स्मृति करा दी थी।

३. 'लीलाप्रसंग', १/१५१।

ग्राम है। वहाँ पर खुले आकाश के नीचे, खेतों के बीच, देवी का निवास है, जिसकी कोई मानवी मूर्ति नहीं है, परन्तु दो फुट चौड़े और चार फुट लम्बे एक मिट्टी के टीले में, जो कि एक तरफ लाल रंग से रँगा हुआ है, देवी की जाग्रत् उपस्थिति का अनुभव किया जाता है। इस असाधारण देवी के बारे में ऐसी किम्वदन्ती है कि तीर्थयात्रियों द्वारा चढ़ाये गये पैसे वह गाँव के ग्वाल-बालों को दे दिया करती है तथा वे लोग उससे मिठाइयाँ आदि खरीदकर आनन्द मनाया करते हैं। इसी कारण देवी को एक पक्के मन्दिर में स्थापित कर नियमित रूप से उसके पूजन का हर प्रयास रहस्यपूर्ण ढंग से विफल हो गया है। आठ वर्ष का[४] या, एक अन्य विवरण के अनुसार, दस या ग्यारह वर्ष का बालक रामकृष्ण कामारपुकुर से विशालाक्षी के दर्शन को आनुड़ जा रही महिलाओं की एक टोली के साथ हो लिया। गदाधर को बहुत से भजन कण्ठस्थ थे, अतः रास्ते में समय बिताने के लिए वह उन्हें गाकर सुनाता जा रहा था। अचानक ही उसका मधुर कण्ठ रुद्ध हो गया, अंग-प्रत्यंग कठोर हो गये तथा उसके नेत्रों से लगातार अश्रु प्रवाहित होने लगे। दल की महिलाएँ यह समझ न सकीं कि उसे अचानक क्या हो गया। उन लोगों ने सोचा कि गदाधर सम्भवतः धूप के कारण अचेत हो गया है। परन्तु काफी पुकारने तथा पानी छिड़कने पर भी उसकी बाह्य संज्ञा न लौटी। फिर बुद्धिमती प्रसन्ना ने गदाधर के कान में देवी का नाम सुनाया, जिससे धीरे-धीरे बालक को होश आ गया तथा वह सामान्य आचरण करने लगा। काफी दिनों बाद इस प्रसंग में उन्होंने कहा

४. 'लीलाप्रसंग', १/१५३।

था—"वह क्या ही अद्भुत दर्शन था, मैं बाह्य जगत् के प्रति बिल्कुल ही अचेत हो गया था।" दुर्भाग्यवश इस सम्बन्ध में हमें ठाकुर के अपने शब्दों में एकमात्र यही वाक्य मालूम है। सम्भवतः जगदम्बा का यह उनका प्रथम दर्शन था। उन्हें क्या उनके किसी रूप का दर्शन हुआ था? यह हमें पता नहीं।

फिर वह प्रसिद्ध घटना आती है, जिसमें गदाधर से शिव का अभिनय करने के लिए अनुरोध किया गया था। हमें इस घटना की सभी बाह्य परिस्थितियों का पता है। शिवरात्रि का पहला प्रहर था और ग्रामवासियों को जगाये रखने के लिए जिस नाटक का आयोजन किया गया था, शिव का अभिनय करनेवाले पात्र के अचानक बीमार पड़ जाने के कारण वह संकट में पड़ गया था। गदाई बैठा हुआ महादेव का चिन्तन कर रहा था कि मित्रों ने आकर उससे वह भूमिका स्वीकार कर लेने का आग्रह किया। उत्सुक दर्शकों के समक्ष उसने धीमी चाल से प्रवेश किया, परंतु इसी बीच उसे भावसमाधि लग चुकी थी। आँसुओं की धार के बीच उसका चेहरा दमक रहा था, जो कि मूर्तिवत् दण्डायमान शरीर में जीवन का एकमात्र लक्षण था। श्रीरामकृष्ण की जीवनी[५] में एक विवरण है—"शिव की दिव्य महिमा में बालक पूरी तौर से डूब चुका था। उसका मन अलौकिक राज्य में आरूढ़ होकर शिव के समान ही अखण्ड शान्ति एवं आनन्द का उपभोग करने लगा। उसके मानसिक नेत्रों के समक्ष महादेव की महिमा के विविध पक्ष व्यक्त होने लगे। शान्त, मधुर, आत्मविस्मृत तथा जागतिक सुख-दुःखों से अतीत शिव

५. 'Life', ४५।

उसके समक्ष जगद्धिताय समाधिलीनता एवं महायोग के आदर्श के रूप में प्रकट हुए।" परन्तु हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि ठाकुर ने कभी इस घटना का ऐसा वर्णन किया भी था या नहीं। दर्शकों पर इसका चमत्कारिक प्रभाव पड़ा था, जिसके फलस्वरूप वे 'वाह! वाह!' कहकर चिल्ला उठे थे, परन्तु ये शब्द अपने लक्ष्य तक न पहुँच सके थे, क्योंकि श्रीरामकृष्ण सारी रात बाह्य जगत् के लिए अचेत पड़े रहे। इस घटना के बाद से उन्हें ऐसी भावसमाधियाँ और भी बारम्बार होने लगीं। स्वामी सारदानन्द कहते हैं कि उपनयन (आम तौर पर यह आठ वर्ष की आयु में होता है) होने के बाद से उन्हें जब-तब दर्शन या समाधि हो जाया करती थी। बाद में अन्य नाटकों का अभ्यास करते समय भी उन्हें भाव हुए थे।

सोलह वर्ष की आयु में गदाधर अपने ज्येष्ठ भ्राता रामकुमार की देखरेख में पढ़ने तथा नगर के धर्मभाव-सम्पन्न परिवारों में पूजा करने में उनकी सहायता करने के लिए अपना ग्राम छोड़कर कलकत्ता चले गये। उनके इन तीन वर्षों के आन्तरिक जीवन के बारे में हमें मात्र इतना ही पता है कि उन्होंने सांसारिक जीवन के लिए उपयोगी शिक्षा के प्रति नापसन्दगी तथा उपेक्षा व्यक्त की थी। अत: अब हमें अपना ध्यान नगर से चार मील उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि द्वारा गंगातट पर निर्मित कराये हुए मन्दिर-उद्यान की ओर मोड़ना होगा। इसी काली-मन्दिर में रामकुमार ने स्थायी नियुक्ति स्वीकार की थी, और काफी समझाने-बुझाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने भी १८५५ ई. के मध्य भाग में यहाँ

सहायक पुजारी का पद ग्रहण किया था। तब से मन्दिर-परिसर में वे 'छोटे भट्टाचार्य' के रूप में जाने जाने लगे।

उनकी पहली वास्तविक पूजा काली-मन्दिर में न हो राधाकान्त (श्रीकृष्ण) के मन्दिर में आरम्भ हुई थी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण ने पुजारी के रूप में जिन मंत्रों का उच्चारण किया, उनके वर्ण यहीं पर उनके शरीर के विविध अंगों में उज्ज्वल वर्णों में प्रकट हुए थे। पूजा में एक स्थल पर पुजारी को 'रं' मन्त्र का उच्चारण कर अग्नि की एक रक्षक दीवाल के प्रतीक के रूप में अपने चारों ओर एक घेरे के रूप में जल छिटकना पड़ता है। ठाकुर के ऐसा ही करने पर उन्हें अपने आसन के चारों ओर उस दीवाल से सैकड़ों लपटें उठती हुई दीख पड़ी थीं। उन्होंने बताया कि उन्होंने कुण्डलिनी को वास्तव में एक सर्प के रूप में सुषुम्ना से होकर मस्तक में अवस्थित सहस्रार में जाते हुए देखा था। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि वह शक्ति ऊपर उठते हुए शरीर के जिन अंगों को त्यागती जा रही है, वे मानो निस्पन्द, शून्य तथा जड़वत् होते जा रहे हैं।[६] उन्हें पूजारत देखना एक काफी आकर्षक दृश्य रहा होगा। उनके भानजे एवं सहयोगी हृदयराम ने कहा था कि उस समय वे इतने तन्मय हो जाया करते थे कि किसी के निकट आने तथा बोलने पर भी उन्हें बिल्कुल भान न होता था।

'छोटे भट्टाचार्य' को शीघ्र अपने बड़े भाई के कार्य के साथ बदली हो गयी तथा वे काली के पुजारी के रूप में नियुक्त हुए। अब उनका सम्पूर्ण मन जगदम्बा के रूप में ईश्वर की ओर प्रवाहित होने लगा। उनके मन पर ईश्वर

६. 'लीलाप्रसंग', १/२०१-२।

के अस्तित्व की स्वयं ही जाँच करने का पागलपन सवार हुआ। ईश्वर-दर्शन न होने पर व्याकुलता के क्षणों में एक बार उन्होंने जगन्माता के सम्मुख आत्मघात करने का भी निश्चय किया। माँ का उत्तर न मिलने पर श्रीरामकृष्ण अपना निश्चय कार्यरूप में परिणत करने को अग्रसर हुए। अपनी व्याकुलता की चरमावस्था में उन्हें जैसा प्रतीत हुआ, वह उन्हीं के शब्दों में सुनिए---"जलरहित करने के लिए लोग जिस प्रकार बलपूर्वक अँगौछे को निचोड़ते रहते हैं, मुझे भी तब ऐसा ही प्रतीत हुआ कि मानो मेरे हृदय को पकड़कर कोई वैसे ही निचोड़ रहा है। माँ का दर्शन सम्भवत: मुझे कभी भी प्राप्त न होगा, यह सोचकर वेदना से मैं तड़पने लगा। व्याकुल होकर मैं यही सोचने लगा कि इस जीवन से क्या लाभ है। उस समय मेरी दृष्टि माँ के मन्दिर में रखी हुई तलवार पर सहसा जा पड़ी। तत्काल ही जीवन को समाप्त करने की भावना से उन्मत्त की तरह दौड़ता हुआ वहाँ जाकर मैं उसे पकड़ ही रहा था कि उसी समय सहसा माँ का मुझे अद्भुत दर्शन मिला तथा बेसुध होकर मैं गिर पड़ा। तदनन्तर क्या हुआ, किस तरह वह दिन तथा दूसरे दिन व्यतीत हुए, मुझे इसका कुछ भी पता नहीं है! किन्तु मेरे हृदय में एक अपूर्व घनीभूत आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था और मैंने माँ के साक्षात् प्रकाश की उपलब्धि की थी।" [७] उस बार उन्हें माँ के मानवी रूप के दर्शन हुए थे या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। स्वामी सारदानन्द का अनुमान है कि ऐसा हुआ था, क्योंकि बाह्यसंज्ञा लौटते समय उनके मुख से स्पष्ट रूप से 'माँ' की पुकार निःसृत हो

७. 'लीलाप्रसंग', १/२१३।

रही थी। तथापि पिछले उद्धरण तथा ठाकुर द्वारा इस दर्शन के दिये गये निम्नांकित विवरण में इसका कोई उल्लेख नहीं है—"घर, द्वार, मन्दिर—ये सब कुछ न जाने कहाँ विलुप्त हो गये—मानो कहीं कुछ भी नहीं था! ——मुझे एक अनन्त, असीम, चेतन ज्योतिःसमुद्र दिखायी देने लगा।——जिधर जहाँ तक मैं देख रहा था, उधर ही चारों ओर से गरजती हुई उसकी उज्ज्वल तरंगें मुझे ग्रस्त करने के निमित्त अत्यन्त तीव्र वेग से बढ़ी आ रही थीं। देखते देखते वे मेरे ऊपर आ गिरीं और पता नहीं मुझे कहाँ एकदम डुबो दिया। हाँफता तथा डुबकियाँ लगाता हुआ अचेत होकर मैं गिर पड़ा।"

यह नाटकीय दर्शन उन्हें सन्तुष्ट न कर सका, वरन् इससे माँ की चिन्मयी मूर्ति के निरन्तर दर्शन के लिए उनकी व्याकुलता और भी बढ़ गयी। कुछ दिनों के लिए तो वे किसी भी कार्य के योग्य न रह गये। कभी-कभी दुःख से पीड़ित होकर वे भूमि पर गिर पड़ते तथा उच्च तथा करुण स्वर में माँ से कृपायाचना करते। जब उत्सुक तथा सहानुभूति जतानेवाले लोग उनके चारों ओर आ जुटते, तब—उन्होंने बताया था——"छाया या चित्रांकित मूर्ति की भाँति वे मुझे अवास्तव-जैसे प्रतीत होते थे, इसलिए मेरे मन में किंचिन्मात्र भी लज्जा या संकोच उत्पन्न नहीं होता था। उस असहनीय यातना से कभी कभी मैं बेसुध हो जाता था और उसके बाद ही मुझे 'माँ की वराभयकरा चिन्मयी मूर्ति' का दर्शन प्राप्त होता था और मैं यह देखता था कि वह मूर्ति हँस रही है, बातें कर रही है और तरह तरह से मुझे सान्त्वना

तथा शिक्षा प्रदान कर रही है ।"[८] परवर्ती काल में जब उनके पास भक्तों एवं शिष्यों का आगमन हुआ, तो उन्होंने ईश्वर-दर्शन के निमित्त जैसी व्याकुलता होनी चाहिए उसका दृष्टान्त देते हुए उन लोगों को एक साधक की कहानी बतायी थी, जिसके गुरु ने उसे पानी के अन्दर तब तक दबाये रखा था, जब तक कि वह साँस के लिए मृतप्राय न हो गया । माँ उनकी पुकार सुनकर जिस प्रकार उन्हें शिक्षा दिया करती थी, एक घटना में उसका उदाहरण मिलता है । उन्होंने कहा था—"माँ, मैं मूर्ख हूँ, तू मुझे बता दे, वेदों, पुराणों, तंत्रों और शास्त्रों में क्या है ।" और माँ ने उन्हें बताया—"वेदान्त का सार है—ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या ।"[९]

उनके हृदय से एक व्याकुल प्रार्थना निःसृत हो उठी जो कि अब काफी प्रसिद्ध हो चुकी है—"इस अवस्था के पश्चात् हाथ में फूल लेकर माँ से मैंने कहा था—'माँ, यह ले तू अपना ज्ञान, यह ले अपना अज्ञान, मुझे शुद्धा-भक्ति दे, माँ ! यह ले अपना भला, यह ले अपना बुरा, मुझे शुद्धाभक्ति दे, माँ ! यह ले अपना पुण्य, यह ले अपना पाप, मुझे शुद्धाभक्ति दे ।' जब यह सब मैंने कहा था, तब यह नहीं कह सका कि माँ, यह ले अपना सत्य, यह ले अपना असत्य । माँ को सब कुछ तो दे सका, परन्तु सत्य न दे सका ।"[१०]

वे अपने मन को जो भी आदेश देते, मन पूरी निष्ठा के साथ उसका पालन करता । उन दिनों ध्यान में बैठते

८. 'लीलाप्रसंग', १/२१४ ।
९. 'वचनामृत', २/३३० (५ वाँ संस्करण) ।
१०. 'वचनामृत', १/५०६ (चौथा संस्करण) ।

ही, मन को दृढ़तापूर्वक ध्यान करने का आदेश देने पर, उन्हें अपने पाँव से लेकर सिर तक शरीर के जोड़ों से खट-खट की ध्वनि उठती हुई सुनायी पड़ती थी। उन्हें ऐसा प्रतीत होता मानो कोई अदृश्य शक्ति उन्हें उसी मुद्रा में स्थिर रखने के लिए ताले बन्द कर रही हो। जब तक उन्हें ऊपर की ओर से पुनः ताले खोलने की आवाज़ न सुनायी पड़ती, वे हिल-डुल नहीं सकते थे और न अपना आसन ही छोड़ सकते थे।[११] अब उनके समक्ष योग-ग्रन्थों में वर्णित अनुभूतियाँ प्रकट होने लगीं। कभी उन्हें दीख पडता कि जगत् खद्योतपुंजों के समान ज्योति-बिन्दुओं से परिपूर्ण है। कभी देखते कि चारों ओर पारे-जैसा या कभी गली हुई चाँदी-जैसा सरोवर झिलमिल-झिलमिल कर रहा है। कभी देखते मानो मसालेवाली सलाई का चारों ओर उजाला हो रहा है। उन्होंने कहा था—"फिर दिखलाया, वे ही जीव हैं, वे ही जगत् हैं और चौबीसों तत्त्व[१२] भी वे ही हुए हैं। छत पर चढ़कर फिर सीढ़ियों से उतरना। आँखें बन्द करने पर ये दृश्य देखने को मिलते थे तथा किसी किसी समय खुली आँखों से भी उसी प्रकार दिखायी पड़ता था। मैं क्या देख रहा हूँ उसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था तथा इस प्रकार का दर्शन होना अच्छा है अथवा नहीं, यह भी मैं नहीं जानता था, इसलिए व्याकुल होकर माँ (जगन्माता) के समीप यह प्रार्थना किया करता—'माँ, यह क्या हो रहा है, मुझे कुछ भी पता नहीं। माँ, तेरे सिवाय मुझे और कौन सिखाएगा; तुझे छोड़कर मेरा दूसरा और कोई सहायक

११. 'लीलाप्रसंग', १/२१५-१६।
१२. सांख्य-दर्शन के सृष्टि-विज्ञान के तत्त्व।

अथवा गति नहीं है !' उः ! किस अवस्था में उसने रखा था ! एक अवस्था जाती तो दूसरी आती ! जैसे ढेंकी के घार। एक ओर नीचा होता है तो दूसरी ओर ऊँचा हो जाता है। जब अन्तर्मुख होकर समाधिलीन हो जाता, तब भी देखता वे ही हैं और जब बाहरी संसार में मन आता, तब भी देखता वे ही हैं। जब आईने के इस ओर देखता, तब भी वे ही हैं और जब उस ओर देखता, तब भी वे ही हैं।"[१३]

जब ठाकुर पुनः पूजा कर सकने के योग्य हुए, तो उनकी पूजा एक बिल्कुल अलग ही ढंग की होने लगी। कभी-कभी जब वे पुष्प उठाकर माँ को निवेदित करना चाहते, तो उनका हाथ स्वयं अपने ही सिर की ओर मुड़कर फूल चढ़ा देता। एक दिन तो मन्दिर के कर्मचारियों में खलबली मच गयी थी। उन लोगों ने देख लिया था कि छोटे भट्टाचार्य जगदम्बा का भोग एक बिल्ली को खिला रहे हैं। मन्दिर के मालिक मथुरबाबू को तुरन्त ही सूचित किया गया। इस बीच श्रीरामकृष्ण कालीमन्दिर के भीतर सब कुछ चिन्मय देखने लगे। प्रतिमा चिन्मय, वेदी चिन्मय, पूजा के पात्र चिन्मय, द्वार, संगमर्मर का फर्श तथा स्वयं —सब कुछ चिन्मय। "मन्दिर के भीतर देखा, सब मानो रस से भरपूर है—सच्चिदानन्द-रस से। भीतर उनकी शक्ति झलझलाती हुई देखी। कालीमन्दिर के सामने एक दुष्ट प्रकृति का आदमी खड़ा था, उसके भीतर भी मैंने जगदम्बा की शक्ति को ही स्पन्दित होते देखा। तभी तो मैंने बिल्ली को उनके भोग की पूड़ियाँ यह कहते हुए खिला दी थीं—'माँ, तू खाएगी ?' देखा,

१३. 'लीलाप्रसंग', १/२१६, 'वचनामृत', २/३३१।

माँ ही सब कुछ हुई हैं—बिल्ली भी ।" [१४]

यह अनुभूति श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक जीवन में विशेष महत्त्व की है, क्योंकि जहाँ तक हमें पता है यही पहला अवसर था जब वे बाहर तथा भीतर पूर्णरूप से ईश्वराविष्ट हो गये थे । अब तक, जैसा कि हमने देखा, ठाकुर बहुधा जगदम्बा के उस पक्ष के भावपूर्ण ध्यान में तन्मय रहा करते थे, जिसका दर्शन जाग्रत् अवस्था से परे, भीतर अन्तःकरण में, प्राप्त हुआ करता है । परन्तु अब यहाँ से एक दूसरा सूत्र आरम्भ होता है, जो कि उनके आध्यात्मिक जीवनरूप वस्त्र के निर्माण के लिए पहले सूत्र के ताने में बाने का काम करता है । और वह सूत्र है इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त ईश्वर, जो शुद्ध दृष्टि से सम्पन्न लोगों को सर्वत्र दीख पड़ता है । इसमें प्रत्येक दिखायी देनेवाले रूप में—मानव, पशु, मन्दिर, प्रतिमा सभी में—जगदम्बा ओतप्रोत दीख पड़ती हैं । यह कहा जा सकता है कि उनकी यह जो सर्वग्राही अनुभूति है वह उन्हें भारत के सनातन धर्म के—उपनिषदों में घोषित 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-रूप अद्वैतपरक मंत्र के—आधुनिक आधान और अभिव्यंजक के रूप में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित कर देती है ।

अब माँ के साथ उनका सम्बन्ध घनिष्ठतर होने लगा । उनके जीवन में आये हुए परिवर्तन ऐसे थे जैसे एक महान् चित्रकार द्वारा बनाये गये किसी रेखाचित्र को रंगों से भरकर एक सुन्दर तसवीर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया हो । पहले के दर्शनों में वे जगदम्बा का केवल एक हाथ, एक पाँव या चेहरा मात्र देख पाते थे, पर अब उन्हें पूरी मूर्ति हँसती या बातें करती दीख पड़ती थी । पहले वे

१४. 'वचनामृत', १/५७३, २/२८७, 'लीलाप्रसंग', १/२२० ।

माँ के नेत्रों से एक ज्योतिपुंज निकलकर नैवेद्य का स्पर्श करते देखते, पर अब वे माँ को वास्तव में भोजन करते देखते थे। पहले जहाँ वे मूर्ति में जीवन्त उपस्थिति देखा करते, अब उन्हें मूर्ति न दीखकर स्वयं जगदम्बा ही दीख पड़ती थीं। "नाक पर हाथ रखकर मैंने देखा है कि माँ वास्तव में श्वास ले रही हैं। रात में दीपक के प्रकाश में अच्छी तरह देखने पर भी मुझे कहीं भी माँ के दिव्य अंग की छाया नहीं दिखायी दी। अपनी कोठरी में बैठकर मैं सुना करता था कि माँ पैंजन पहनकर बालिका की तरह आनन्दित हो झुनझुन शब्द करती हुई मन्दिर के ऊपर की मंजिल पर चढ़ रही हैं। शीघ्रता से कोठरी से बाहर निकलकर मैंने देखा है कि सचमुच माँ दुमंजिले के बरामदे पर बिखरे-केश खड़ी होकर कभी कलकत्ता तो कभी गंगाजी का दर्शन कर रही हैं।"[१५] ठाकुर ने बताया है कि वे 'माँ' कहते हुए समाधि में चले जाते थे। वे मानो मुख को आकाश और पाताल तक फैलाकर माँ कहते हुए जगज्जननी को वैसे ही आकर्षित कर लेते थे, जैसे धीवर जाल फेंकते हैं और फिर मछली पकड़कर जाल को खींचते रहते हैं।[१६]

उच्चकोटि के जीव भी मानव-जन्म लेने पर शरीर की सीमाएँ स्वीकार करते हैं। श्रीरामकृष्ण इस नियम के अपवाद न थे, भले ही उनके शुद्ध शरीर में दिव्य भावों की आँधी को सहन कर पाने की क्षमता सामान्य साधकों की तुलना में काफी अधिक थी। इसके बाद से उनकी शारीरिक अवस्था बिगड़ने लगी तथा उसमें विकार के लक्षण दीख पड़ने लगे। उनमें एक लक्षण था—पूरे शरीर

१५. 'लीलाप्रसंग', १/२१८।
१६. 'वचनामृत', २/२३, ३६९।

में जलन महसूस करना। यह गात्रदाह उनके साधक-जीवन के प्रारम्भ में ही उपस्थित हुआ था तथा उनके परवर्ती जीवन में भी कई बार प्रकट हुआ था। उनका पहला गात्र-दाह छः महीनों तक रहा था तथा क्रमशः बढ़ते हुए उसकी चरम परिणति एक अन्य दर्शन में हुई थी। इस बार उन्हें नित्यपूजा के एक अंग की सार्थकता की अनुभूति हुई थी। प्रत्येक पुजारी को यह कल्पना करनी पड़ती है कि उसके हृदय में पाप-पुरुष का निवास है, जो कि लाल नेत्रोंवाले एक काले दैत्य के समान है। आत्मशुद्धि की क्रिया में उसे हृदय से बाहर निकालकर मार डाला जाता है। हजारों वर्षों से, जब से पूजा-पद्धति शुरू हुई होगी, लाखों पूजकों ने पूजा के इस अंग को सम्पन्न किया होगा। परन्तु पंचवटी में बैठकर पूजा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने वास्तव में देखा कि पाप-पुरुष मानो शराब के नशे में झूमते हुए उनके शरीर से बाहर निकला और उनके सम्मुख टलहने लगा। दूसरे ही क्षण गेरुआ धारण किये एक सौम्य पुरुष भी (सम्भवतः बाद के उनके अनेक दर्शनों का युवा संन्यासी) त्रिशूल लिये उनके शरीर से निकला और उस भीषण आकृतिवाले को मार डाला। हमें यह नहीं मालूम कि ठाकुर ने यह घटना खुली आँखों से देखी थी या बन्द आँखों से। इस घटना में दोनों ही सम्भावनाएँ हैं। परन्तु यह तो निश्चित है कि तब से कुछ समय के लिए उनका गात्रदाह कम हो गया था।'[१७]

१८५८ ई. का वर्ष था। एक दिन सुबह वह युवा पुजारी, जो अब तक कुछ लोगों की दृष्टि में अन्तःप्रेरित, उन्मादी या पागल माना जा चुका था, अपनी सामान्य—

१७. 'लीलाप्रसंग', १/२२५।

या कहें, असामान्य—पद्धति से काली की पूजा कर रहा था। परन्तु आज तो सभी कुछ विलक्षण था। आइए हम उनके स्वयं के ही शब्द श्रवण करें—"ईश्वर-दर्शन करने पर कर्मों का त्याग हो जाता है। इसी तरह मेरी पूजा बन्द हो गयी। कालीमन्दिर में पूजा करता था, एकाएक माँ ने दिखाया, सब चिन्मय है—पूजा की चीजें, वेदी, मन्दिर की चौखट—सब चिन्मय हैं। मनुष्य, जीव, जन्तु सब चिन्मय हैं। तब पागल की तरह चारों ओर फूल फेंकने लगा। जो कुछ दृष्टि में आता, उसी की पूजा करने लगा!" एक अन्य दिन "पूजा करते समय शिवजी के मस्तक पर चन्दन लगा रहा था, उसी समय दिखलाया—यह विराट् मूर्ति—यह विश्व ही शिव है। तब शिव-लिंग तैयार करके पूजा करना बन्द हो गया। मैं फूल तोड़ रहा था, उसी समय मुझे दिखलाया—फूल के पेड़ फूल के एक-एक गुच्छे हैं।"[१८]

अब श्रीरामकृष्ण ने मथुरबाबू को बतलाया कि माँ कहती हैं कि वे उनके पूजन की भाँति ही हृदय[१९] के पूजन को भी स्वीकार करेंगी।[२०]

○

१८. 'वचनामृत', २/४६-४७।
१९. श्रीरामकृष्ण के भानजे।
२०. 'लीलाप्रसंग', १/२२९।

अकर्म का स्वरूप

(गीताध्याय ४, श्लोक १९-२४)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।

यस्य (जिसकी) सर्वे (सम्पूर्ण) समारम्भाः (चेष्टाएँ) कामसंकल्पवर्जिताः (कामना और संकल्प से रहित हैं) तं (उस) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं (ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुष को) बुधाः (ज्ञानीजन) पण्डितम् (पण्डित) आहुः (कहते हैं) ।

"जिसकी समस्त चेष्टाएँ कामना और संकल्प से अर्थात् फल-कामना और कर्तृत्वाभिमान से रहित हैं तथा ज्ञानरूप अग्नि द्वारा जिसके कर्म भस्म हो चुके हैं, ज्ञानी लोग उसे पण्डित कहते हैं ।"

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।२०।।

सः (वह) कर्मफलासंगं (कर्म और उसके फल में आसक्ति को) त्यक्त्वा (त्यागकर) नित्यतृप्तः (सदैव तृप्त) निराश्रयः (आश्रय से रहित) [सन् (हो)] कर्मणि (कर्म में) अभिप्रवृत्तः (विशेष रूप से प्रवृत्त होने पर) अपि (भी) किंचित् (कुछ) एव (ही) न (नहीं) करोति (करता है) ।

"वह कर्म और उसके फल में आसक्ति को त्यागकर सदैव (परमात्मा में) तृप्त रहता है और (सांसारिक समस्त) आश्रय से विमुख हो जाता है । वह कर्मों में विशेष रूप से प्रवृत्त होने पर भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता (क्योंकि उसके कर्म अकर्म में परिणत हो जाते हैं) ।"

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।२१।।

[सः (वह)] निराशीः (आशारहित) यतचित्तात्मा (अन्तः-करण और देह को जीतनेवाला) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (सब प्रकार की भोग-सामग्री को त्याग देनेवाला) केवलं (केवल) शारीरं

(शरीर-सम्बन्धी) कर्म (कर्म) कुर्वन् (करता हुआ) किल्बिषं (पाप को) न (नहीं) आप्नोति (प्राप्त होता है)।

"वह आशा से रहित हो जाता है, अन्त:करण और देह को जीत लेता है तथा सब प्रकार की भोग-सामग्री और परिग्रह का त्याग कर देता है। वह केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता है।"

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।

[सः (वह)] यदृच्छालाभसंतुष्टः (अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो जाय उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला) द्वन्द्वातीतः (शीत-उष्ण, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों से अतीत हुआ) विमत्सरः (मात्सर्य यानी ईर्षा से रहित) सिद्धौ (सिद्धि में) च (और) असिद्धौ (असिद्धि में) समः (समान भाव रखनेवाला) कृत्वा (करके) अपि (भी) न (नहीं) निबध्यते (बँधता है)।

"वह जो कुछ अपने आप आ जाय उसी को पाकर सन्तुष्ट रहता है। वह समस्त द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है अर्थात् शीत-उष्ण, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व उसे विचलित नहीं कर पाते। वह ईर्ष्या से रहित होता है तथा कार्य की सफलता और असफलता दोनों में उसकी बुद्धि समान होती है। (इसलिए) वह कर्म करता हुआ भी उससे आबद्ध नहीं होता।"

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।२३।।

गतसंगस्य (आसक्ति से रहित) ज्ञानावस्थितचेतसः (ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले) यज्ञाय (यज्ञ के लिए) आचरतः (आचरण करते हुए) मुक्तस्य (राग-द्वेष आदि से मुक्त पुरुष के) समग्रं (समस्त) कर्म (कर्म) प्रविलीयते (नष्ट हो जाते हैं)।

"ऐसे उस आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले, यज्ञ के लिए कर्मानुष्ठान करनेवाले तथा राग-द्वेषादि से मुक्त पुरुष के समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् बन्धन उत्पन्न नहीं कर पाते)।"

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

अर्पणं (अर्पण यानी स्रुवा आदि यज्ञपात्र) ब्रह्म (ब्रह्म है) हविः (हवन करने योग्य द्रव्य) ब्रह्म (ब्रह्म है) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूप अग्नि में) ब्रह्मणा (ब्रह्मरूप हवनकर्ता के द्वारा) हुतं (होम किया गया) तेन (उस) ब्रह्मकर्मसमाधिना (ब्रह्मरूप कर्म में मनोनिविष्ट व्यक्ति के द्वारा) ब्रह्म (ब्रह्म) एव (ही) गन्तव्यम् (प्राप्त होने योग्य है)।

"उस पुरुष के लिए स्रुवा (अग्नि में घी की आहुति डालने की करछी) भी ब्रह्म है और घी भी ब्रह्म है। वह ऐसा मानता है कि ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप हवनकर्ता के द्वारा ही हवन किया गया। इस प्रकार सब कर्मों को ब्रह्मरूप ही देखता हुआ उसके द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त होता है।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखनवाल पुरुष को मनुष्यों में बुद्धिमान् कहा, उसे योगी की संज्ञा दी तथा सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला कहा। अर्जुन को कुतूहल हुआ कि ऐसा व्यक्ति अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में किस प्रकार वर्तन करता है। ऊपर के छः श्लोकों में उसी का वर्णन है। ये श्लोक अकर्म की स्थिति का वर्णन करते हैं और उसके माध्यम से अकर्म का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त छहों श्लोकों में कर्म की ही प्रवृत्ति सूचित की गयी है--१९वें श्लोक में 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' कहकर, २०वें म 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि कहकर, २१वें में 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' कहकर, २२वें में 'कृत्वापि न निबध्यते' कहकर, २३वें में 'यज्ञायाचरतः कर्म' कहकर, तो २४वें में 'ब्रह्मकर्मसमाधिना' कहकर।

इसी प्रकार का एक वर्णन हमें दूसरे अध्याय में भी प्राप्त होता है, जहाँ अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने स्थित-प्रज्ञ पुरुष का वर्णन किया है। ये दोनों वर्णन एक ही प्रकार

के हैं, जो दर्शाते हैं कि स्थितप्रज्ञता और अकर्म की स्थिति दोनों वस्तुतः एक ही हैं। अन्तर केवल यह प्रतीत होता है कि वहाँ स्थितप्रज्ञता में ज्ञान की प्रधानता है और यहाँ अकर्म की स्थिति में कर्म की; वहाँ ज्ञानयोग की निष्ठा है, सांख्यबुद्धि है, तो यहाँ कर्मयोग की निष्ठा है, योगबुद्धि है। और भगवान् के मतानुसार ये दोनों बुद्धियाँ, दोनों निष्ठाएँ एक ही स्थिति को प्राप्त कराती हैं।

१९वें से २३वें तक के पाँच श्लोकों में कर्मयोग के द्वारा अकर्म की स्थिति पर पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए १७ विशेषणों का प्रयोग हुआ है:–(१) उसकी सारी चेष्टाएँ कामना और संकल्प से रहित होती हैं, (२) उसके कर्म ज्ञानाग्नि में दग्ध हो चुके होते हैं, (३) वह ज्ञानीजनों की दृष्टि में पण्डित है, (४) वह कर्म और उसके फल में आसक्ति त्याग देता है, (५) वह नित्यतृप्त होता है, (६) निराश्रय होता है, (७) आशारहित होता है, (८) अन्तःकरण और देह का नियमन करनेवाला होता है, (९) सारे परिग्रह त्याग देता है, (१०) यदृच्छालाभसन्तुष्ट, (११) द्वन्द्वातीत और (१२) मात्सर्य से रहित होता है, (१३) सिद्धि और असिद्धि में सम रहता है, (१४) आसक्ति से रहित तथा (१५) मुक्त होता है, (१६) उसका चित्त ज्ञान में केन्द्रित रहता है तथा (१७) वह हर कर्म यज्ञ-भाव से करता है। यदि ये गुण हमारे भी जीवन में आ जाएँ, तो हम भी अकर्म की यह स्थिति लाभ करने में समर्थ होते हैं। अब हम इन गुणों को समझने की चेष्टा करेंगे।

(१) **सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः**—उसकी चेष्टाओं में कामना और संकल्प का अभाव होता है। संकल्प

कामना की भी सूक्ष्मावस्था है, वह कामना को जन्म देता है। पहले मन में संकल्प उठता है और उसकी पूर्ति के लिए कामना जन्म लेती है। आचार्य शंकर इस पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'कामसंकल्पवर्जिताः कामैः तत्कारणैः च संकल्पैः वर्जिताः'। जैसे हम कोई काम करना चाहते हैं। तो पहले हम उसका 'ब्लू प्रिंट' तैयार करते हैं। यह 'ब्लू प्रिंट' संकल्प है। उसे कार्यरूप देने के लिए जो योजना बनती है, वह कामना है। इसके पश्चात् योजना का जो कार्यान्वियन है, वह 'समारम्भ' यानी शारीरिक चेष्टा या कर्म है।

अब जो भी सुसम्बद्ध कार्य होगा, उसमें संकल्प और कामना दोनों होंगे। जो कार्य योजनाबद्ध नहीं है, उसमें भले ही इन दोनों का अभाव परिलक्षित होता हो, पर किसी भी संगठित कार्य का आधार संकल्प और कामना ही होती है। तो, इस कथन से क्या यह अर्थ लेना चाहिए कि अकर्म में स्थित पुरुष योजनाबद्ध तरीके से कार्य नहीं करता? यदि ऐसा हो तो उसमें और एक मूढ़ में क्या अन्तर रहेगा? मूढ़ भी अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होकर कर्म करता है, उसकी क्रियाओं में योजनाबद्धता नहीं होती।

नहीं, यह अर्थ नहीं है। अकर्म में स्थित पुरुष योजनाबद्ध तरीके से ही कर्म करता है, पर उसमें अपने लिए न तो कोई संकल्प होता है, न कामना। उसकी समस्त चेष्टाओं में अपने सुख, अपने आराम, अपने भोग की कोई दृष्टि नहीं होती। सामान्यतः हम दूसरों की सेवा के लिए भी जो कर्म करते हैं, वहाँ भी अपने सुख-भोग की व्यवस्था कर ही लेते हैं। हमारे परार्थ दीखनेवाले कर्मों के पीछे भी यदि भौतिक स्वार्थ न हो, तो कम से कम नाम-यश की

कामना रहती ही है। इस व्यक्ति में उसका भी सर्वथा अभाव होता है। सारांश यह कि उसकी चेष्टाओं में **स्वार्थ-युक्त** कामना और संकल्प का सर्वथा अभाव होता है।

(२) **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**—उसके कर्म ज्ञान की अग्नि में दग्ध हो जाते हैं, इसलिए बन्धनकारक नहीं होते। जब रस्सी आग में जल जाती है, तो उसका आकार तो ठीक रस्सी का बना रहता है, पर उससे बाँधने का काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि उसे छूते ही वह राख हो जाती है। इसी प्रकार यह व्यक्ति जो कर्म करता है, वह दिखने में तो कर्म का ही आकारवाला होता है, पर ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाने के कारण उसमें बाँधने की क्षमता नहीं रह जाती।

(३) **तमाहुः पण्डितं बुधाः**—ज्ञानीजन ऐसे व्यक्ति को पण्डित कहते हैं। जो कर्म और अकर्म का विवेचन करके, कर्म करते हुए भी अपने को कर्मबन्धन से बचा ले, उससे बढ़कर पण्डित, बुद्धिमान् और कौन हो सकता है? जो काजल की कोठरी में नहीं गया, उसे काजल यदि न लग पाया हो तो कोई बहादुरी नहीं। पर जो काजल की कोठरी में रहकर भी काजल से बचा रहता है, उसकी बुद्धि की तुलना नहीं हो सकती।

(४) **त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्**—वह कर्म और फल दोनों की आसक्ति त्याग देता है। पहले कहा कि उसमें अपने स्वार्थ के लिए संकल्प और कामना का अभाव होता है। ठीक है, पर उसमें परार्थ तो संकल्प और कामना है, वह दूसरों के लिए तो करता है। तो, परार्थ किया गया कर्म क्या उस पर प्रतिक्रिया नहीं डालता? जैसे हमने कोई सेवा का काम अपने हाथ में लिया। यह ठीक है कि

हम अपने लिए नाम-यश भी नहीं चाहते, जिनके लिए सेवा-कार्य कर रहे हैं, उन्हीं की उन्नति चाहते हैं। पर यदि उसमें हमें वांछित सफलता नहीं मिली अथवा लोग हम पर दोषारोपण करने लगे, तो क्या उसकी प्रतिक्रिया हमारे मन पर नहीं होगी ? यदि होगी, तो ऐसा पुरुष उस प्रकार की प्रतिक्रियाओं से अपनी रक्षा कैसे करता है ? तो, यहाँ पर रक्षा का सूत्र दिया गया है––यह व्यक्ति फलासक्ति तो त्यागता है ही, कर्मासक्ति भी त्याग देता है। कर्म और फल की आसक्ति का यह त्याग उसके लिए रक्षाकवच का काम करता है। जिस उद्देश्य से कार्य आरम्भ किया गया, वह सफल हो––यह कामना तो रहेगी, पर सफलता न दिखने पर मन चंचल होकर असन्तुलित नहीं बनेगा। जैसे कोई काम सफल नहीं हो रहा है, तो क्या मैं यह कहकर अपना हाथ खींच लूँ कि मुझमें फलासक्ति नहीं है ? नहीं, मैं पूरा उद्यम करूँ, जिससे कार्य सिद्ध हो जाय। कोई कसर अपने प्रयत्न में न रखूँ। पर इसके पीछे यह भावना प्रेरक-शक्ति के रूप में न हो कि असफल होने पर लोग मुझ पर हँसेंगे या मेरी निन्दा करेंगे अथवा सफल होने पर मुझे साधुवाद देंगे। बल्कि कार्य सिद्ध हो जाय––बस, यही भावना प्रेरकशक्ति रहेगी। इसी को फलासक्ति का त्याग कहते हैं।

यहाँ कहा गया कि वह कर्मासक्ति का भी त्याग कर देता है। इसका क्या तात्पर्य ? जैसे मैंने एक कठिन कार्य हाथ म लिया और बहुत परिश्रम करके उसमें सफल हो गया। अब यदि वह कार्य छोड़ने की नौबत आये, तो मैं छोड़ नहीं पाता। कहता हूँ कि जब इतनी कठिनाई के बाद इसमें सफलता मिली है, तो इसे अब क्यों छोड़ूँ ? इसे 'कर्मासक्ति' कहते हैं। लोग सेवा-संगठन बनाते हैं। अच्छा

कार्य भी करते हैं। एक बार मान लें कि फलासक्ति भी छोड़ देते हैं। पर जब उससे अलग होने का अवसर आता है, तो दुःखी हो जाते हैं। यह कर्मासक्ति की प्रतिक्रिया है। अकर्म में स्थित पुरुष कर्म और फल दोनों की आसक्ति से मुक्त रहता है।

(५) **नित्यतृप्त**:—चूंकि उसमें न तो फलासक्ति की प्रतिक्रिया होती है, न कर्मासक्ति की, इसलिए वह सदैव तृप्त रहता है। अतृप्ति अभाव की सूचक है। जिसम अभाव-बोध है, उसमें कोई न कोई आसक्ति अवश्य होगी। यह व्यक्ति आसक्ति से रहित होने के कारण किसी प्रकार का अभाव अनुभव नहीं करता।

(६) **निराश्रय**:—वह न तो किसी व्यक्ति या वस्तु पर आश्रित होता है, न परिस्थितियों पर। वह एकमात्र परमात्मा पर आश्रित होता है। व्यक्ति का आश्रय तुच्छ-से दिखनेवाले कारण से हट जा सकता है, पर परमात्मा का आश्रय कभी नष्ट नहीं होता। वह सबका आश्रय है और उसका आश्रय हमें सब समय प्राप्त है। पर हम अपने राग-द्वेष के कारण उस आश्रय का लाभ नहीं ले पाते।

कथा आती है कि सिंहगढ़ का किला बनाते समय एक दिन शिवाजी के मन में अभिमान आ गया कि मैं इतने मजदूरों का आश्रय बना हुआ हूँ, जो इनका पालन कर रहा हूँ। इतने में उनके गुरु समर्थ रामदास आये। वे शिवाजी की मनःस्थिति भाँप गये। उन्होंने एक जगह चट्टान तुड़-वायी। अन्दर एक मेंढक था और उसके लिए जल की व्यवस्था थी। शिवाजी की आँखें खुल गयीं।

इस प्रकार के बोध से युक्त पुरुष कर्म में लगा हुआ भी तत्त्वतः कुछ भी नहीं करता, क्योंकि उसमें कर्तापन का

सर्वथा अभाव है। इस सन्दर्भ में एक सुन्दर कथा प्रसिद्ध है। गोपियाँ यमुना पार कर श्यामसुन्दर के पास जाना चाहती थीं। वे नाव में विलम्ब देख विकल हो रही थीं। इतने में व्यासदेव वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने गोपियों की विकलता का कारण पूछा। सब सुनकर उन्होंने कहा—हमें बड़ी भूख लगी है, कुछ खिला दो तो व्यवस्था करें। वे तीन-चौथाई माखन चट कर गये और डकारकर हाथ जोड़कर यमुना से बोले—हे यमुना मैया, यदि मैंने कुछ न खाया हो तो रास्ता दे दो। और यमुना दो में विभक्त हो गयी! इसका अर्थ यह है कि व्यासदेव में अहं का अभाव है, उन्होंने ऐसा नहीं माना कि मैंने खाया। इसी को कर्म करते हुए भी तत्त्वतः नहीं करना कहा गया है।

(७) **निराशीः**—इसका अर्थ यह नहीं कि वह निराश हो जाता है, अपितु यह कि वह किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता। अपेक्षा ही तो दुःख देती है। माता-पिता अपने बच्चों से अपेक्षा रखते हैं और कितना दुःख पाते हैं। संसार में आशा का सम्बन्ध ही दुःख का कारण है। वह अपने लिए किसी से कुछ नहीं चाहता।

(८) **यतचित्तात्मा**—वह अपने अन्तःकरण और शरीर पर नियंत्रण रखता है। शारीरिक और मानसिक अभाव ही व्यक्ति में आशा-आकांक्षा पैदा करते हैं। फल-स्वरूप वह अतृप्ति का अनुभव करता है। पर इसने दोनों को जीत लिया है, इसीलिए आशारहित और नित्यतृप्त रहता है।

(९) **त्यक्तसर्वपरिग्रहः**—सारा परिग्रह—संचय छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, योगक्षेम का भी त्याग कर देता है। इसी से उसमें निराश्रयता का भाव दृढ़ होता है। कुछ लोग

दान देने की बारी आने पर कहते हैं—भाई, मैंने तो सारा परिग्रह त्याग दिया है, अब बच्चे ही सब कुछ सँभालते हैं ! वह ऐसा त्यक्तपरिग्रह नहीं होता !

ऐसा व्यक्ति शरीर से कर्म करता हुआ भी 'किल्बिष' को, पाप को नहीं प्राप्त होता। यहाँ पर 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' कहा है, जिसका तात्पर्य होता है—'केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ' । जो लोग ज्ञानयोगी हैं, कर्म के स्वरूपतः त्याग के पक्षधर हैं, जो कर्मों के सम्पूर्णतः त्याग को ही ज्ञानप्राप्ति का सोपान मानते हैं, वे इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि वह उतना ही कर्म करे, जितना शरीर चलने के लिए आवश्यक है । वे 'केवल' शब्द को इसी अर्थ में लेते हैं । पर जो कर्मयोगी हैं, जो सतत कर्म करने के पक्षधर हैं, वे 'केवल' का अर्थ यह लेते हैं कि वह कर्म जो करे, वह मात्र शरीर से करे, मन का योग उसमें न होने दे । तो क्या वह बेमन से कर्म करे, अन्यमनस्क होकर कर्म करे ? मन न लगाने से कर्म सही-सही कैसे होगा ? इस पर वे कहते हैं कि कर्म में मन तो लगाओ, पर अहंकार को न आने दो। कर्म करो, पर कर्तापन न रहे, यही 'शारीरं केवलं' कहने का तात्पर्य है । इस प्रसंग में यह दूसरा अर्थ ही अधिक समीचीन मालूम पड़ता है; क्योंकि कहा गया है कि ऐसा करने से 'किल्बिष' (पाप) नहीं लगता । अब जो मात्र शरीर-निर्वाह के लिए खाना-पीना, सोना-चलना आदि कर्म है, उसमें तो पाप लगने की बात अप्रासंगिक है । पाप का प्रश्न वहाँ आता है, जहाँ मनुष्य तरह-तरह के कर्मों में लगा होता है । इस दृष्टि से भी 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' कर्मयोगी के लिए ही कही गयी बात मालूम पड़ती है।

वैसे तो 'किल्बिष' का अर्थ पाप होता है, पर आचार्य

शंकर एक बड़े परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ करते हैं—'कर्म से लगनेवाला बन्धन'। वे भाष्य करते हुए कहते हैं—'किल्बिषम् अनिष्टरूपं पापं धर्मं च । धर्मः अपि मुमुक्षोः किल्बिषम् एव बन्धापादकत्वात्'—'किल्बिष अनिष्टरूप पाप भी हो सकता है और पुण्य भी, क्योंकि बन्धनकारक होने से पुण्य भी मुमुक्षु के लिए तो पाप ही है ।' यदि कर्म में कर्तापन नहीं रहेगा, तो करनेवाला कर्म के फल से अलिप्त रहेगा । कितना भी बढ़िया कर्म हो, उसके साथ कुछ न कुछ दोष तो रहता ही है । भगवान् कहते हैं कि जैसे आग के साथ धुआँ हरदम लगा रहता है, वैसे ही अच्छे से अच्छा कर्म के साथ दोष भी । जब ऐसा है, तो कर्ता को अच्छे कर्म का जैसे पुण्यरूप फल मिलेगा, वैसे ही दोषयुक्त कर्म का पापरूप फल भी । यही किल्बिष है, क्योंकि जैसे पाप बन्धनकारक होता है, वैसे ही पुण्य भी । किन्तु जब कर्म केवल शरीर से किये जाते हैं और उनमें अहंकार का योग नहीं होता, तब उनका न तो पुण्यरूप फल मिलता है, न पापरूप, और इस प्रकार योगी 'किल्बिष' को नहीं प्राप्त होता ।

(१०) **यदृच्छालाभसंतुष्टः**—'अप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभः तेन संतुष्टः संजातालंप्रत्ययः' (आचार्य शंकर) अर्थात् 'बिना माँगे अपने आप जो मिले वह यदृच्छालाभ है और उसमें मन का यह भाव हो कि यह पर्याप्त है ।' यह बात योगी के स्वयं के जीवन के सन्दर्भ में कही जा रही है । वह समाज की उन्नति के लिए अपनी चेष्टा में दूसरों का सहयोग चाहेगा और माँगेगा, पर जहाँ तक उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं का प्रश्न है, वह अजगरवृत्ति धारण करेगा ।

(११) **द्वन्द्वातीतः**—वह सुख-दुःख, हर्ष-शोक, शीत-

उष्ण आदि द्वन्द्वों में बुद्धि को विचलित नहीं होने देता। वह इन्हें अनिवार्य पर 'आगमापायी' (आने और जानेवाले) मानकर सह लेता है।

(१२) **विमत्सरः**—वह ईर्षारहित होता है, उसमें निर्वैर बुद्धि होती है। उसमें दूसरों पर दोष लादने की प्रवृत्ति का अभाव होता है। उसमें अपकारी के प्रति भी बदला भँजाने की वृत्ति नहीं होती, वह उसके लिए भी कल्याण-कामना करता है।

कथा आती है कि एक नाव में अन्य लोगों के साथ एक महात्मा भी बैठे थे। उनकी चिकनी खोपड़ी को लेकर कुछ यात्री उपहास करने लगे—ये सण्ड-मुसण्ड, परोपजीवी लोग समाज पर कलंक हैं। देखो, मुफ्त का खा-खाकर इसकी खोपड़ी कैसी चमक रही है! इसका तबला अच्छा बनेगा। और यह कह उनमें से एक अपने दोनों जूते से सन्त की खोपड़ी पर तबला बजाने लगा। सन्त तो सन्त ही था, चुपचाप उसने सब सह लिया, पर भगवान् से भक्त का अपमान नहीं सहा गया। आकाशवाणी हुई—भक्त, कहो तो नाव उलटाकर इन दुष्टों को मजा चखा दूँ! भक्त विनयपूर्वक बोला—प्रभु, आप उलटाना ही चाहते हैं तो नाव क्यों उलटाते हैं, इनकी बुद्धि ही उलटा दीजिए न! इसे मात्सर्य का अभाव कहते हैं।

(१३) **समः सिद्धावसिद्धौ च**—न तो सफलता में हर्षजनक चांचल्य का शिकार होता है, न असफलता में शोकजन्य उद्विग्नता का। वह कर्तव्यबुद्धि से निष्ठापूर्वक कर्म में लगे रहता है। कर्म और फल के प्रति आसक्ति का अभाव उसकी बुद्धि को सिद्धि और असिद्धि में सम बनाये रखता है।

इस प्रकार की सम-बुद्धि से युक्त होने पर कर्म करने पर भी उससे नहीं बँधता। वास्तव में राग-द्वेष ही बन्धन के कारण हैं। न तो उसका सफलता के प्रति राग होता है, न विफलता के प्रति द्वेष। अतः कर्म उसमें बन्धन नहीं उत्पन्न कर पाता। आचार्य शंकर भाष्य करते हुए कहते हैं—'लोकव्यवहारसामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपित-कर्तृत्वे...कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणादिजनितेन अकर्ता एव'—अर्थात् 'ऐसा पुरुष लोकव्यवहार की साधारण दृष्टि से तो सांसारिक पुरुषों द्वारा आरोपित किये हुए कर्तापन के कारण...कर्मों का कर्ता होता है, परन्तु शास्त्रप्रमाण आदि से उत्पन्न अपने अनुभव से वस्तुतः वह अकर्ता ही रहता है।' अपने को अकर्ता मानने के कारण कर्म उसे बाँध नहीं पाता।

(१४) **गतसंगस्य**—वह आसक्ति से रहित होता है। पहले भी तो कह चुके हैं कि वह 'कर्मफलासंग' त्याग देता है, फिर दुबारा क्यों कह रहे हैं? उत्तर यह है कि पहले जो आसक्ति का त्याग कहा, वह कर्म और फल के सन्दर्भ में। अभी जो कह रहे हैं, वह समस्त वस्तु और व्यक्ति के सन्दर्भ में। न तो वह व्यक्ति से बँधा होता है, न वस्तु से और न किसी स्थान या परिवेश से।

(१५) **मुक्तस्य**—इसीलिए वह मुक्त रहता है। वस्तुतः आसक्ति ही बन्धन है; वह जहाँ नहीं है, वहाँ मनुष्य मुक्त ही है।

(१६) **ज्ञानावस्थितचेतसः**—कहा कि उस व्यक्ति का मन न तो किसी व्यक्ति में रहता है, न वस्तु में, न स्थान में, न परिवेश में। तो क्या वह जड़ है? एक पशु है? जड़ छोड़कर ऐसा और क्या हो सकता है, जिसका मन कहीं

न लगा हो ? पशुओं में भी तो ऐसे लक्षण मिलते हैं । पशु में कर्म या फल के लिए आसक्ति नहीं दिखती, वह भी जो मिले उसमें तृप्त रहता है, किसी का आश्रय नहीं खोजता, जहाँ जगह मिल गयी, रह लेता है । उसमें आशा नहीं दिखती, वह संचय नहीं करता, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व से अप्रभावित रहता है, किसी की निन्दा या चुगली-चारी नहीं करता, सफलता या असफलता का उसके जीवन में कोई अर्थ नहीं है । तब क्या अकर्म में स्थित व्यक्ति भी पशु के समान है ? उत्तर में पशु से उसकी विलक्षणता बताते हुए कहते हैं कि उसका चित्त निरन्तर ज्ञान में अवस्थित रहता है । पशु तो सहज प्रेरणा के वशीभूत हो ऐसा करता है, पर इस कर्मयोगी के ज्ञान में रमे रहने के कारण उसके जीवन से ये क्रियाएँ उसी सहजता से निकलती हैं, जिस सहजता से पुष्प से उसका सौरभ निकलता है ।

सहज प्रेरणा और ज्ञान की प्रेरणा से निकलनेवाले कर्म बाहर से तो एक समान ही दिखायी देते हैं, पर दोनों की मानसिकता में आकाश-पाताल का अन्तर होता है । एक शिशु कितना सरल, निष्कपट, भोला, अनासक्त और पवित्र होता है । इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में भी ये सारे गुण दिखायी देते हैं । पर दोनों में कितना अन्तर है ! शिशु के ये गुण बड़े होने पर नष्ट हो जाएँगे, क्योंकि वे उसमें सहज प्रेरणा के कारण दिखायी देते हैं । शिशु के बड़े होने पर सहज प्रेरणा दब जाती है । पर ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में प्रकाशित गुण कभी नष्ट नहीं होते, क्योंकि उनका आधार ज्ञान है । और ज्ञान यदि एक बार जीवन में उतर गया, तो फिर कभी लुप्त नहीं होता है । भगवान् यदि एक बार जीवन में आकर प्रतिष्ठित हो गये, तो फिर

कभी दूर नहीं होते हैं।

(१७) **यज्ञायाचरतः कर्म**—उसका प्रत्येक कर्म यज्ञ क लिए होता है। यही कर्मयोग की चरम सिद्धि है। कर्म तब यज्ञ बनता है, जब उसमें कर्तापन और फल का भोक्ता-पन नहीं रहता। यह पुरुष तो कर्तृत्वाभिमान से रहित है ही, इसीलिए उसके द्वारा जो भी कर्म होता है, वह यज्ञ ही बन जाता है। और तब वह कर्म 'समग्रं प्रविलीयते'— समग्ररूप से विलीन हो जाता है। आचार्य शंकर के अनु-सार—'सहाग्रेण फलेन वर्तते इति समग्रं कर्म'—अग्र वाचक है फल का, अतः 'समग्र कर्म' का अर्थ हुआ 'कर्म फल के साथ'। मतलब यह कि यज्ञ-भावना से किये जाने के कारण उसके समस्त कर्म फलसहित नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार कर्म करते हुए अकर्म की स्थिति को प्राप्त हुए व्यक्ति के लिए हर कर्म और कर्म का हर उपकरण तथा कर्म की प्रणालीस्वरूप हर क्रिया भी ब्रह्म ही हो जाती है। यही वास्तव में कर्म को यज्ञ बना लेना है। तभी तो २४वें श्लोक में उस व्यक्ति की ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय हो जाता है—अर्पण भी ब्रह्म, हवि भी ब्रह्म, अग्नि भी ब्रह्म, यजमान भी ब्रह्म और लक्ष्य भी ब्रह्म।

'अर्पण' वह है, जिसके द्वारा अग्नि में घी की आहुति डाली जाती है। इसे संस्कृत में स्रुवा कहते हैं। यह लकड़ी की करछी होती है। फिर 'अर्पण' अग्नि में आहुति डालने की क्रिया को भी कहते हैं। 'हवि' वह है, जिसका अग्नि में होम किया जाता है, जैसे घी आदि। अग्नि भी ब्रह्म है तथा जिस यजमान के द्वारा आहुति डाली जा रही है, वह भी ब्रह्म है। इस प्रकार जिसने कर्म के सभी अंगों में ब्रह्म-

भाव कर लिया, वह 'ब्रह्मकर्मसमाधि' है तथा उसके द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त किया जाता है। यहाँ यह तात्पर्य ध्वनित हुआ है कि साधनों के प्रति ब्रह्मभाव होने से सिद्धि में ब्रह्म है ही।

जब हम 'अर्पण' शब्द की 'अर्प्यते अनेन' ऐसी करण-व्युत्पत्ति लेते हैं, तो होम के सारे साधन स्रुवा, जुहू आदि तथा जिन मंत्रों से होम किया जाता है वे सब भी 'अर्पण' के अन्तर्गत ले लिये जाते हैं। जब उसकी 'अर्प्यते अस्मै' ऐसी चतुर्थी विभक्ति की व्युत्पत्ति लेते हैं, तो जिस देवता के लिए आहुति दी जाय उस देवता में भी ब्रह्मबुद्धि रखना—यह भी अर्थ 'अर्पण' के अन्तर्गत आ जाता है। 'अर्प्यते अस्मिन्' ऐसी सप्तमी विभक्ति की व्युत्पत्ति लेने पर हवन के देश-काल आदि तत्त्व, जिनमें आहुति दी जाती है, भी 'अर्पण' के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'ब्रह्मणा' इस कर्तृपद से प्रेरक यजमान तथा आहुति देने का साक्षात् कर्ता अध्वर्यु नाम का ऋत्विग् भी आ जाता है। इस प्रकार यज्ञ के सभी उपकरणों में ब्रह्मबुद्धिपूर्वक यज्ञादि कर्म करने से उनसे जो फल प्राप्त होता है, वह भी ब्रह्म ही है। यही कर्मयोगी की ब्राह्मी स्थिति है। ज्ञानयोगी की ब्राह्मी स्थिति का वर्णन दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक में किया गया है, जहाँ कहा गया है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

इसकी विस्तृत व्याख्या हम अपने चवालीसवें प्रवचन में कर चुके हैं। यहाँ पर तो कर्मनिष्ठा के माध्यम से कर्मयोगी की उच्चतम स्थिति का वर्णन करते हुए अकर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, जो तत्त्व की दृष्टि से ज्ञान के स्वरूप से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। ○

भगवत्-सान्निध्य की साधना

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

(रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी)

श्रीरामकृष्ण का उपदेश है कि जब संसार के कर्म करो, तब 'एक हाथ से कर्म करो और दूसरे हाथ से ईश्वर के चरणों को पकड़े रहो। जब संसार के कर्मों का अन्त हो जाय, तब दोनों हाथों से ईश्वर के चरणों को पकड़ लेना।' आध्यात्मिक भाषा में इसका अर्थ यह है कि कर्म करते समय आधे मन से कर्म और आधे मन से भगवच्चिन्तन करना तथा कर्म के समाप्त होने पर पूरा मन भगवान् के चिन्तन में लगा देना।

यह उपदेश सभी साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि अधिकांश लोगों के लिए संसार की झंझटों से छुटकारा पाकर एकाग्र-चित्त हो अधिक समय केवल भगवच्चिन्तन में लगाना सम्भव नहीं होता। एक तो पारिवारिक तथा सामाजिक कर्तव्यों के कारण ऐकान्तिक भगवद्ध्यान का समय या अवसर बहुत कम मिलता है; दूसरे, यदि ऐसा सुयोग मिलता भी है तो साधक का मन सहायक नहीं होता। कर्म से छुटकारा पाने पर भी हम दोनों हाथों से भगवान् के चरण पकड़ नहीं पाते। ऐसी स्थिति में कर्म के समय का यथासाध्य सदुपयोग करना ही एकमात्र युक्तियुक्त विकल्प रह जाता है। यही नहीं, आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए साधना को जप-ध्यान, भजन-पूजन तक ही सीमित रखने से काम नहीं चलेगा। हमें अपने दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक क्षण को साधना में परिणत करना होगा। हमें ऐसा जीवन-यापन करना होगा कि सांसारिक और आध्यात्मिक कर्मों के बीच अन्तर ही न रहे। समग्र जीवन के अध्यात्मीकरण

के अनेक उपायों में से एक उपाय है—कर्म के समय आधे मन से कर्म और आधे मन से भगवच्चिन्तन करना।

पर क्या यह सम्भव है? क्या मन को इस तरह दो भागों में विभक्त किया जा सकता है? क्या ऐसा करने से कर्म की हानि नहीं होगी? इन शंकाओं के समाधान के लिए सर्वप्रथम हमें मन के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

हमारे मन में अनेक प्रकार के विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ एवं कल्पनाएँ एक के बाद एक निरन्तर उठती रहती हैं। वस्तुतः इन निरन्तर उठ रही चित्तवृत्तियों के प्रवाह का नाम ही मन है। सामान्यतः कोई भी दो चित्तवृत्तियाँ एकसमान नहीं होतीं। जब हम कोई कार्य करते हैं, उस समय उस कार्यविशेष से सम्बन्धित वृत्तियाँ उठती हैं, और अन्य वृत्तियाँ कुछ समय के लिए दब जाती हैं। लेकिन तब भी सारी वृत्तियाँ कर्मविशेष से ही सम्बन्धित नहीं होतीं। बीच-बीच में दूसरी वृत्तियाँ भी उठती रहती हैं। ध्यान के समय भगवदाकार वृत्तियों का बाहुल्य होने पर भी अन्य वृत्तियाँ भी मन में उठती रहती हैं। केवल एक योगी के प्रशिक्षित मन में ही कर्म के समय केवल कर्म सम्बन्धी और ध्यान के समय केवल भगवदाकार वृत्तियाँ उठती हैं। इसे निम्न सांकेतिक चित्र की सहायता से अच्छी तरह समझा जा सकता है—

(१) मन की सामान्य अवस्था—
क-ख-ग-घ-च-छ-ज-झ-प-भ

(२) कर्मरत साधारण व्यक्ति का मन—
क-ख-क-ग-घ-क-क-ग-झ-क

(३) ध्यान करते साधारण व्यक्ति का मन—
भ-क-ख-भ-भ-भ-ग-ख-भ-घ

(४) कर्मरत योगी का मन—
क-क-क-क-क-क-क-क-क-क

(५) ध्यानरत योगी का मन—
भ-भ-भ-भ-भ-भ-भ-भ-भ-भ

(क—कर्म सम्बन्धी चित्तवृत्ति; भ—भगवदाकार वृत्ति; अन्य अक्षर अन्य वृत्तियों के प्रतीक हैं।)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि कर्म करते समय आधी वृत्तियाँ कर्म से सम्बन्धित और आधी असम्बद्ध होती हैं। इसे ही आधा मन कर्म में लगाना कहते हैं। सत्य तो यह है कि हम कभी भी पूरे मन से कोई कार्य नहीं करते। हमारा प्रस्तुत कार्य है कर्म से असम्बद्ध वृत्तियों के स्थान पर भगवदाकार वृत्ति उठाना। ऐसा करने पर मन में केवल दो प्रकार की वृत्तियाँ उठेंगी—एक, भगवदाकार और दूसरी, कर्म सम्बन्धी, जिसे निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है—

क-भ-क-क-क-भ-भ-क-भ-क-भ

यही कर्म के समय आधे मन से कर्म और आधे मन से भगवच्चिन्तन करना हुआ। तब कर्म समाप्त कर ध्यान में बैठने पर पूरे मन से भगवच्चिन्तन करना आसान होगा।

हम अपने दैनन्दिन कर्मों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। नहाना-धोना, रसोई बनाना, घर साफ करना, पैदल या सवारी से आवागमन करना इत्यादि मुख्यतः शारीरिक कार्य हैं, जिन्हें हम अभ्यास के कारण यंत्रवत् करते हैं। इनमें सामान्यतः हमारा मन खाली रहता

है तथा स्वच्छन्द रूप से इधर-उधर भटकता रहता है। पढ़ना-लिखना, वार्तालाप करना आदि कर्मों में न्यूनाधिक मात्रा में मनोनिवेश करना पड़ता है। फिर प्रत्येक व्यक्ति के व्यवसायविशेष से सम्बन्धित कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनमें चित्त की एकाग्रता की अधिक आवश्यकता होती है। लेकिन ऐसे कर्मों के बीच भी अवकाश के छोटे-बड़े अवसर होते हैं, जब मन उन कर्मों से कुछ समय के लिए हट जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के कर्मों में से हम किसी भी प्रकार का कर्म क्यों न कर रहे हों, मन को पर्याप्त अवकाश प्राप्त होता है, जिसका उपयोग भगवच्चिन्तन में किया जा सकता है। शारीरिक एवं यंत्रवत् क्रियाओं के समय तो हम अपने पूरे मन को ही भगवान् में लगा सकते हैं। जिन कार्यों में मनोनिवेश अधिक मात्रा में आवश्यक है, उनके प्रारम्भ, अन्त और बीच-बीच में भगवान् का स्मरण आसानी से किया जा सकता है।

कर्म के समय भगवच्चिन्तन का अधिक उपयुक्त नाम है 'भगवत्-सान्निध्य की साधना', क्योंकि इस साधना में दैनन्दिन कार्यों के बीच भगवान् की अवस्थिति का, उनके संस्पर्श का अनुभव करने का प्रयत्न किया जाता है। यह कार्य अनेक प्रकार से किया जा सकता है :--

(१) यंत्रवत् किये जानेवाले कार्यों के समय सोचें कि हमारे इष्ट-देवता हमारे पास ही विद्यमान हैं। कपड़े धोते समय, रसोई बनाते समय वे हमारे निकट खड़े हो प्रसन्नभाव से हमें देख रहे हैं। गमनागमन करते समय सोचें कि वे हमारे साथ आ-जा रहे हैं; रेल या मोटर में हमारे पास बैठे हैं। बीच-बीच में हम मन ही मन अपने सान्निध्य में स्थित अपने इष्ट को प्रणाम कर सकते हैं,

अथवा 'प्रभु, मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो; मेरा सर्वस्व तुम्हारा है', इत्यादि प्रार्थना या वार्तालाप प्रभु से कर सकते हैं।

यह साधना सबसे सरल तथा आनन्ददायक है, क्योंकि हम भगवान् के उस रूपविशेष का चिन्तन करते हैं, जो हमें सबसे प्रिय लगता है। इसमें कल्पना का उपयोग किया जाता है, और जिसकी कल्पनाशक्ति जितनी प्रबल होगी, वह उतना अधिक सफल होगा। लेकिन इसमें एक खतरा भी है, जिससे सावधान रहना आवश्यक है। भावप्रवण व्यक्ति कल्पना और यथार्थ दर्शन में अन्तर न कर पाने के कारण कल्पना को ही दर्शन समझने की गलती कर सकते हैं। कल्पना को यथार्थ समझना एक मानसिक रोगविशेष है। अतः सदा यह ध्यान रहे कि हम कल्पना का साधना में उपयोग मात्र कर रहे हैं, इससे अधिक कुछ नहीं।

(२) कल्पना के साथ जुड़ी उपर्युक्त समस्या से बचने के लिए इष्टदेव के स्थूल रूप का चिन्तन करने के बदले उनकी चेतन अवस्थिति मात्र का विचार किया जा सकता है। सोचें कि वे आनन्दमय चैतन्यसत्ता के रूप में हमारे निकट विद्यमान हैं तथा हम पर कृपा-वर्षण कर रहे हैं।

(३) भगवत्-सान्निध्य के अभ्यास का तीसरा प्रकार है—परमात्मा की सत्ता को आसपास की विभिन्न वस्तुओं में देखने का प्रयत्न करना:—

(क) श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मानव में अन्य प्राणियों की अपेक्षा परमात्मा का सबसे अधिक प्रकाश है। अतः सभी को—आबाल-वृद्ध-वनिता, धनी-निर्धन, पापी-पुण्यात्मा, जिन पर भी हमारी दृष्टि पड़े तथा जिनके सम्पर्क में हम आएँ उन सबको—

परमात्मा का एक-एक रूप सोचें। स्वामी विवेकानन्द ने तो निर्धन, रोगी, दरिद्र, पापी को अपना विशेष आराध्य माना है। अतः ऐसे लोगों में भगवान् को देखने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। यदि प्रारम्भ में यह करना सम्भव न हो तो साधु-सन्तों में भगवद्-बुद्धि करना आसान हो सकता है, लेकिन इससे भगवत्-सान्निध्य की साधना सीमित हो जाती है।

(ख) सभी विशेषत्वयुक्त वस्तुओं में परमात्मा का विशेष प्रकाश है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि भगवान् विभु-रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं, लेकिन जहाँ बल, बुद्धि, गुण, सामर्थ्य अधिक हों, वहाँ उनका अधिक प्रकाश है। यही बात श्रीकृष्ण गीता के सातवें तथा दसवें अध्याय में भी कहते हैं। भगवान् जल में रस, सूर्य-चन्द्र में प्रकाश, आकाश में शब्द तथा नरों में पौरुष के रूप में विद्यमान हैं। वे बुद्धि-मानों में बुद्धि, तेजस्वी व्यक्तियों में तेज तथा बलवानों में बल हैं। वे नक्षत्रों में चन्द्र, वेदों में सामवेद तथा इन्द्रियों में मन हैं। सागर, गंगा, अश्वत्थ वृक्ष, मगर, अध्यात्म-विद्या आदि उनके विशेष रूप हैं, तथा नारियों में कीर्ति, श्री, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा उनके प्रकाश हैं। ये वस्तुएँ किसी न किसी रूप में हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी हैं, और जब कभी इनसे हमारा साक्षात्कार हो, हम इनमें परमात्मा को देखने का प्रयत्न कर उनकी सन्निधि का अनुभव कर सकते हैं।

(ग) वस्तुतः परमात्मा तो सर्वत्र विद्यमान हैं। उन्होंने सभी वस्तुओं को मानो बाहर से आवृत कर रखा है एवं सबके भीतर भी ओतप्रोत रूप से विद्यमान हैं— 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' अतः बल,

गुण, विभूति, सामर्थ्य निर्विशेष, शुभाशुभ सभी वस्तुओं में भगवान् की विद्यमानता का अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह साधना श्रेष्ठतम होते हुए भी सबसे कठिन भी है।

(४) भगवान् के सान्निध्य का चिन्तन बाह्य वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में न कर अपने हृदय में किया जा सकता है। कर्मों के बीच जब भी अवकाश मिले, मन-ही-मन अपने हृदयमन्दिर में चले जायँ तथा वहाँ क्षणभर के लिए अपने प्रियतम प्रभु से प्रेमपूर्ण सम्भाषण कर लें। यह मानो संसार की व्यस्तता के बीच चोरी-छिपे अपने प्रेमास्पद से मिलने-जैसा है।

(५) चित्र अथवा भगवन्नाम की सहायता से भी भगवत्सान्निध्य का प्रयत्न किया जा सकता है। 'छाया की काया है' इस सिद्धान्त के अनुसार भक्त चित्र एवं चित्रित व्यक्ति को अभिन्न मानते हैं। अतः अपने कमरे अथवा कार्यालय के किसी प्रमुख एवं स्पष्ट स्थान पर भगवान् के रूपविशेष का चित्र लगा लें और यदि उसमें प्रभु की अवस्थिति का दृढ़ विश्वास रहे, तो कर्म के बीच-बीच में उस चित्र की ओर देखकर प्रभु की अवस्थिति का अनुभव किया जा सकता है। इसी तरह 'नाम और नामी अभेद' माने जाते हैं। कर्म के बीच भगवन्नाम का प्रवाह बनाये रखें। अवकाश मिलते ही कोई श्लोक या भजन की किसी पंक्ति की मन ही मन आवृत्ति कर भगवान् के संस्पर्श में जाया जा सकता है।

चित्र एवं भगवन्नाम की सहायता लेने पर भी कई बार इस अभ्यास में सफलता नहीं मिलती, क्योंकि शीघ्र ही नाम-जप यंत्रवत् हो जाता है और चित्र एक जड़पदार्थ,

वस्तु मात्र रह जाता है, तथा इन दोनों के होते हुए भी मन भटकता ही रहता है। फिर भी इनका कुछ न कुछ शुभ प्रभाव तो पड़ेगा ही। प्रतिदिन हमारे नेत्र न जाने कितने शुभाशुभ दृश्य देखते हैं, और कितने स्वर कर्णों में प्रविष्ट होते हैं। उपर्युक्त उपाय से जाने-अनजाने हमारे नेत्रों और कर्णकुहरों से कुछ न कुछ शुभ संवेदन मन तक पहुँच ही जाएँगे।

मन सदा एक ही अवस्था में नहीं रहता। कभी वह रूप-चिन्तन करना चाहता है, तो कभी उसकी रुचि निराकार में होती है। कभी वह प्रभु को बाहर देखना चाहता है, तो कभी हृदय में उनका अनुभव करना। इन बदलते मनोभावों के अनुरूप हम भगवत्-सान्निध्य की साधना कर सकें, इसी उद्देश्य से ये विभिन्न सुझाव दिये गये हैं। साधक अपनी रुचि, मनःस्थिति तथा परिस्थिति के अनुसार इनमें से एक या अनेक का प्रयोग और उपयोग कर सकता है।

○

सच्चिदानन्द-सागर में डूब जाओ। काम-क्रोधरूपी मगरों से मत डरो; शरीर पर विवेक-वैराग्यरूपी हलदी लगाकर डुबकी लगाओ तो ये मगर तुम्हारे पास नहीं फटकेंगे।

—श्रीरामकृष्ण

माँ के सान्निध्य में (२)

स्वामी अरूपानन्द

(श्री माँ सारदा के अनेक भक्तों और शिष्य-शिष्याओं ने उनके साथ बिताये पावन क्षणों को शब्दों में बाँधकर सहेज रखा है। ऐसे कुछ संस्मरण 'श्रीश्रीमायेर कथा' बँगला ग्रन्थ के दो खण्डों में लिपिबद्ध हैं। यह ग्रन्थ उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता के द्वारा प्रकाशित हुआ है, जहाँ से इस नयी लेखमाला की सामग्री साभार गृहीत और अनुवादित है।

प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ के शिष्य एवं सेवक थे। अनुवादक हैं स्वामी निखिलात्मानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर, बिहार में कार्यरत हैं।—स०)

(गतांक से आगे)

एक दिन माँ खाट पर लेटी हुई थीं और महरी कामिनी उनके घुटने पर गठियावात का तेल मल रही थी। माँ ने मुझसे कहा, "देह अलग है और देही अलग। देही सारे शरीर में व्याप्त है, इसीलिए पैर में दर्द का अनुभव हो रहा है। यदि मैं अपने मन को घुटने से समेट लूँ, तो फिर वहाँ दर्द का अनुभव नहीं होगा।"

मंत्र-दीक्षा की बात उठाते हुए मैंने कहा, "माँ, गुरु से मंत्र लेने की क्या आवश्यकता है? मान लो कि व्यक्ति अपना मंत्र न जप 'माँ काली' 'माँ काली' जपता है, तो इससे क्या नहीं होगा?"

माँ—मंत्र से देह शुद्ध होती है। ईश्वर के मंत्र के जाप से मनुष्य पवित्र होता है। एक कहानी सुनो। एक दिन नारद भगवान् के दर्शन करने वैकुण्ठ गये और वहाँ उनसे बहुत देर तक बातें कीं। तब तक नारद ने दीक्षा नहीं ली थी। नारद के चले जाने पर भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी से कहा, 'वहाँ गोबर लीप दो।'

'भला ऐसा क्यों ?'—लक्ष्मीजी ने पूछा, 'नारद तो आपके परम भक्त हैं, फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं ?'

विष्णु बोले, 'नारद ने अभी तक दीक्षा नहीं ली, बिना दीक्षा लिये शरीर शुद्ध नहीं होता ।'

"कम से कम देह की शुद्धि के लिए व्यक्ति का गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक है। वैष्णव अपने शिष्य को दीक्षा देकर कहता है, 'आमि दिलाम मन्तर, एखन मन तोर'* (मैंने दिया मंत्र, अब मन तेरा है)। कहा गया है—

मानवगुरु दीक्षा दे कान में ।
जगद्गुरु दीक्षा दें प्राण में ।।

सब कुछ मन पर निर्भर करता है। मन शुद्ध न होने से कुछ भी नहीं होता। कहा है न—

गुरु, कृष्ण, वैष्णव तीन की दया हुई ।
'एक' की दया बिना जीव की दुर्दशा हुई ।।

यह 'एक' है मन। अपने मन की कृपा होनी चाहिए ।"

बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन तब जोरों से चला हुआ था, इसलिए मैंने पूछा, "माँ, इस देश का दुःख और दुर्दशा क्या दूर नहीं होगी ?"

माँ—ठाकुर का आना ही तो उसी के लिए हुआ था !

माँ की जन्मदायिनी माता की बात उठी। माँ कहने लगीं, "माँ जब थीं, कोई भक्त आने से 'नाती आया है, नाती आया है' कहकर कितनी खुश होतीं, कितनी देखभाल करतीं। यह (भक्तों का) संसार मानो उनके ही शरीर का रक्त-मांस था। उसे कितनी अच्छी तरह से रखतीं। मेरी माँ का नाम श्यामा था।" (नानी ने गत वर्ष सन् १९०६ के प्रारम्भ में देहत्याग किया था।)

* यहाँ पर 'मन्तर' और 'मनतोर' का वर्णसाम्य दर्शनीय है ।

ठाकुर के दर्शन की बात कहने लगीं——"जब ठाकुर चले गये, तब मेरी भी इच्छा हुई कि मैं भी चली जाऊँ। उन्होंने दर्शन देकर कहा, 'नहीं, तुम रहो। बहुत सा काम बाकी है।' बाद में मैंने देखा, ठीक ही तो, बहुत सा काम बाकी है।

"वे कहते थे, 'कलकत्ते के लोग मानो अन्धकार में कीड़ों के समान बिलबिला रहे हैं। तुम उन्हें देखना।'

"उन्होंने कहा था कि वे सौ वर्षों तक भक्तों के हृदय में सूक्ष्म शरीर से निवास करेंगे। और उनके बहुत से गोरे भक्त आएँगे।

"जब ठाकुर चले गये, तो पहले-पहल भय होता। पहनने की लाल साड़ी (पतली लाल किनार की साड़ी) हाथों में कंगन——लोग भला क्या कहेंगे! तब कामारपुकुर में थी। उसके बाद ठाकुर के दर्शन पाने लगी। तब वह सब भय धीरे धीरे जाता रहा। एक दिन ठाकुर ने आकर कहा, 'खिचड़ी खिलाओ।' खिचड़ी पकाकर रघुवीर को भोग लगाया। वे मारवाड़ी (अर्थात् हिन्दी प्रदेशी) थे तो, इसीलिए खिचड़ी। उसके बाद बैठकर भाव में ठाकुर को खिलाने लगी।

"हरीश इसी समय कामारपुकुर में आकर कुछ दिन था। एक दिन मैं पास के मकान से आ रही थी। आकर ज्योंही घर के भीतर घुसी कि हरीश मेरे पीछे दौड़ने लगा। हरीश तब पागल हो चुका था। उसकी स्त्री ने पागल कर दिया था। तब घर में और कोई नहीं था। मैं जाऊँ कहाँ! जल्दी से धान के कोठे के (तब ठाकुर के जन्मस्थान के ऊपर धान का कोठा था) चारों ओर घूमने लगी। वह किसी प्रकार भी नहीं छोड़ रहा था।

सात बार घूमने के बाद मैं सहन न कर पायी। तब स्वयं की मूर्ति आ पड़ी। मैं स्वयं की मूर्ति धारण कर खड़ी हो गयी। उसके बाद उसकी छाती में घुटने टेक उसकी जीभ को पकड़कर खींचकर गाल में ऐसे तमाचे लगाने लगी कि वह हें-हें करके हाँफने लगा। मेरे हाथ की अँगुलियाँ लाल हो गयी थीं। फिर निरंजन* के आने पर उससे कहा, 'इसे वापस भेज दो।' "

योगीन महाराज† की बात उठी। माँ ने कहा, "योगीन के जैसा मुझको कोई प्यार नहीं करता था। मेरे योगीन को यदि कोई आठ आने देता तो वह जमा करके रखता, कहता, 'माँ जब तीरथ-वीरथ जाएँगी तो खर्च करेंगी।' सब समय मेरे पास रहता। स्त्रियों के बीच में रहता इसलिए वे लोग (लड़के लोग) सब उसका मजाक उड़ाते।

"योगीन मुझसे कहता, 'माँ, तुम मुझे योगा, योगा कहकर बुलाना।' योगीन ने जब देह छोड़ी तो उसने कहा, 'माँ, मुझे ले जाने के लिए ब्रह्मा, विष्णु, शिव और ठाकुर आये हैं'।"

मैंने माँ से कहा, "कौन कौन भक्त क्या क्या हैं, मुझसे कहना होगा।"

माँ—किसी से कहोगे तो नहीं ?

मैं—वह तुम्हें देखना होगा जिससे किसी से न कहूँ।

यह कहकर ही मन में उठा कि कहीं किसी से कह बैठूं तो। इसलिए तुरत बोला, "तब रहने दो।"

---

* स्वामी निरंजनानन्द। † स्वामी योगानन्द।

माँ—योगीन को अर्जुन कहते थे। नरेन* को सप्त-र्षियों में से लाये थे। पूर्ण ईश्वरकोटि का, शरत्† और योगीन थे दोनों मेरे अन्तरंग।

इस प्रकार उन्होंने स्वयं होकर एक-दो लोगों की बात कही।

फिर अपनी बात कह रही हैं'—'बलराम बाबू कहते थे, 'क्षमारूपा तपस्विनी'।" यह कहकर फिर बोलीं, "जिसके हृदय में दया नहीं, वह क्या मनुष्य है? वह तो पशु है। मैं कभी कभी दयार्द्र हो अपने आपको भूल जाती हूँ, यह भूल जाती हूँ कि मैं कौन हूँ।"

बातचीत के अन्त में माँ ने कहा, "बेटे, तुम्हारे साथ मेरी दिल खोलकर जैसी बातचीत हुई, वैसी और किसी के साथ नहीं हुई।" बाद में माँ ने कहा, "मैं जब कलकत्ते जाऊँगी, तब तुम आना, मेरे पास रहना।"

यद्यपि अन्दर ही अन्दर मेरी साधु होने की बड़ी इच्छा थी, तथापि तब मैं घर में ही था। मन में सोचा, 'हो सकता है भविष्य में माँ की इच्छा से उनके पास रहना और साधु होना सम्भव हो।'

माँ ने पूछा, "आशु को पहिचानते हो? कांजिलाल और कृष्णलाल को?"

मैंने कहा, "नहीं, मैं नहीं पहिचानता।"

जब मैं जयरामवाटी गया, तब छोटी मामी (राधू की माँ) पागल हो चुकी थीं। राधू के गहनों को लेकर वे मायके गयी थीं। उनके पिता ने गहनों को छीन लिया, इसलिए पागलपन और भी बढ़ गया है। पगली मामी सिंहवाहिनी के मन्दिर में "माँ गहने दो, माँ गहने दो"

* स्वामी विवेकानन्द। † स्वामी सारदानन्द।

कहकर रो रही हैं। सन्ध्या बीत चुकी है। माँ और मैं घर में हैं। बातचीत चल रही है। अचानक माँ ने कहा, "मैं जाती हूँ, बेटा, जाती हूँ। मेरे सिवाय उसका कोई नहीं है। पगली सिंहवाहिनी के सामने गहनों के लिए रो रही है।" यह कहकर माँ चली गयी। किन्तु मुझे रोने की आवाज जरा भी सुनायी नहीं पड़ी और इतनी दूर से सुन पाना सम्भव भी नहीं था। परन्तु माँ के कानों में आवाज पहुँच गयी! सिंहवाहिनी के मन्दिर में जाकर वे पगली को ले आयीं।

पगली कह रही है, "ननदजी, तुमने ही मेरे गहने छिपाकर रखे हैं। तुम्हीं नहीं दे रही हो।" माँ ने कहा, "मेरे होने से मैं काकविष्ठा के समान इसी क्षण फेंक देती।" पगली की बात पर मुझसे हँसते हँसते कहने लगीं, "गिरीशबाबू कहते थे, यह माँ के साथ की पगली है।"

पहले-पहल मुझे 'माँ' कहने में थोड़ी लज्जा होती थी, क्योंकि गर्भधारिणी माँ कम उम्र में ही चल बसी थी। एक दिन सबेरे माँ मेरे द्वारा अपने एक सम्बन्धी को खबर भिजवा रही थीं। जाने के समय पूछा, "क्या कहोगे, बोलो तो?" मैंने कहा, "उनसे कहूँगा कि आपने उनसे यह कहने को कहा है।" सुनकर माँ ने कहा, "कहना, माँ ने कहा है।"—'माँ' शब्द पर जोर देते हुए बोलीं।

एक दिन आठ-नौ बजे सुबह का समय होगा, माँ अपने कमरे से बाहर आ रही थीं। एक लड़का आँगन में खड़ा उन्हें अपलक देख रहा था। माँ आते आते अचानक लड़के की तरफ लौटीं और स्नेहपूर्वक उसकी ठुड्डी में हाथ फिरा हँसती हुई मुझसे कहने लगीं, "यह मेरा गणेश है।" मुझे

लगा, लड़का कोई भक्त अथवा सम्बन्धी होगा ।

एक दिन सबेरे माँ के कमरे के बरामदे में 'श्री-श्रीरामकृष्ण-पुँथि' का पाठ हो रहा था । मैं पढ़ रहा था, माँ तथा और भी दो-एक लोग सुन रहे थे । विवाह का अंश पढ़ा जा रहा था । वहाँ पर माँ को 'जगन्माता' सम्बोधित कर बहुत प्रशंसा की गयी थी । माँ उसका थोड़ा-सा अंश सुनकर ही उठ गयीं । इसके थोड़ी ही देर पहले मैं उनको माघ महीने के 'उद्बोधन' से पढ़कर सुना रहा था । माँ दत्तचित्त होकर सुन रही थीं । उसमें मास्टर महाशय* के 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत'† का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था । वहाँ और कोई नहीं था । एक जगह पढ़ा—

"गिरीश—एक इच्छा है ।

ठाकुर—क्या ?

गिरीश—अहैतुकी भक्ति ।

ठाकुर—अहैतुकी भक्ति ईश्वरकोटि को होती है, जीवकोटि को नहीं ।"

मैंने माँ से पूछा, "माँ, जीवकोटि को नहीं होती, ईश्वर-कोटि को होती है, इसका तात्पर्य क्या ?"

माँ—ईश्वरकोटि पूर्णकाम होता है न, इसीलिए अहैतुक । कामना के रहते अहैतुकी भक्ति नहीं होती ।

मैं—माँ, तुम्हारे ये सब विशेष भक्त लोग और भाई लोग क्या समान हैं ?

मेरे मन का भाव यह था कि जब भाई होकर जन्म लिया है तब ये लोग भी उच्च आधार के तथा अन्तरंग होंगे, जैसे मठ के महाराज लोग हैं ।

* श्री 'म'—'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक ।

† हिन्दी में 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' (तीन भागों में प्रकाशित) ।

माँ ने इसके उत्तर में ओठों को संकुचित कर ऐसा भाव दर्शाया मानो किसके साथ किसकी तुलना कर दी गयी । केवल भाई होने से क्या होगा ? अन्तरंग अलग वस्तु है ।

एक दिन सबेरे धान कूटा जा रहा था । माँ उसमें सहायता कर रही थीं । प्रायः रोज ही ऐसा करतीं । मैंने उनसे कहा, "माँ, तुमको इतना परिश्रम क्यों ?" माँ ने कहा, "बेटा, आदर्श के रूप में जो करना होता है उससे बहुत अधिक किया है ।"

एक दिन रात में सब सो रहे थे । नलिनी (माँ की और एक भतीजी) का पति बैलगाड़ी लेकर नलिनी को ले जाने के लिए उपस्थित हुआ । वह ससुराल से चली आयी थी और वापस जाना नहीं चाहती थी । पति के आने की खबर पाते ही उसने कमरे का दरवाजा बन्द कर लिया और आत्महत्या करने पर उतारू हो गयी । माँ के बहुत समझाने-बुझाने पर तथा आश्वासन देने पर कि उसे इस बार ससुराल जाना नहीं होगा, उसने दरवाजा खोला । इस तरह शोरगुल के बीच रात बीती । माँ नलिनी के कमरे के बरामदे में बैठी रहीं । सबेरा होने पर उन्होंने अपने सामने की लालटेन को बुझाया और कहने लगीं, "गंगा, गीता, गायत्री, भागवत, भक्त, भगवान्, श्रीरामकृष्ण, श्रीरामकृष्ण !"

बाद में नलिनी की बात पर माँ ने मुझसे कहा, "उसकी बुआ (यानी श्री माँ) को ठण्ड लग गयी है, बेटे, इसलिए वह जाना नहीं चाहती ।"

एक दिन सबेरे माँ ने मुझे घर के एक पुराने नौकर को साथ दे पगली के पिता के पास भेजा ताकि मैं उन्हें

समझा-बुझाकर ले आऊँ अथवा यदि गहने देने पर राजी हों तो गहने ले आऊँ। हम लोगों के जाकर बहुत प्रार्थना करने पर वे दूसरे दिन आये तो सही, परन्तु गहने नहीं लाये। माँ ने उनसे बहुत अनुनय-विनय की, यहाँ तक कि पैरों में हाथ लगाकर भी प्रार्थना की कि वे गहने वापस कर दें, और कहा, "आप मुझे इस संकट से उबारिए।" परन्तु उस लोभी ब्राह्मण का दिल नहीं पसीजा, वह तरह तरह के बहाने बनाने लगा।

शिवरात्रि के पहले दिन मैंने रवाना होने का निश्चय किया था, क्योंकि मठ में ठाकुर-उत्सव देखने की विशेष इच्छा थी। माँ को भी यही बतलाया था। दोपहर में भोजन के बाद माँ को प्रणाम करने के लिए गया कि अब रवाना होऊँगा। माँ ने कहा, "इस शशी के साथ जाना।" शशी एक स्त्री थी, यह देख मैं जरा सोच में पड़ा। तब माँ ने कहा, "अरे, वह हम लोगों की शशी है। मेरे साथ दक्षिणेश्वर में रहती थी।" शशी से कहा, "इसको हम लोगों के कमरे में (जिसमें माँ और ठाकुर कामारपुकुर में रहते थे) ठहराना। रामलाल की मौसी से कह देना।" तब और कोई ठाकुर के घर में नहीं रहता था।

मुझसे बोलीं, "कामारपुकुर में एकाध दिन रुककर फिर मठ जाना। ठाकुर के जन्मस्थान स होकर जाना चाहिए।" मुझे कामारपुकुर जाने की कल्पना नहीं थी। मैं तो केवल माँ को देखने के लिए ही गया था। उनके लिए व्याकुल होकर घर से छूटा चला आया था। यहाँ तक कि साथ में कपड़े, छाता लाना भी भल गया था। कुछ दूर चले आने पर ख्याल जरूर आया था, पर कोई विघ्न न घट जाय यह सोचकर लौटा नहीं था।

मेरे साथ कपड़े नहीं थे। माँ ने पहनने के लिए एक कपड़ा दिया और कहा, "यह साथ ले जाओ।" उन्होंने पूछा, "पास में रुपये हैं? गाड़ी-भाड़ा आदि देना होगा, रुपये ले जाओ।" मैंने कहा, "मेरे पास रुपये हैं, लेने की आवश्यकता न होगी।" उन्होंने कहा, "जाकर चिट्ठी देना।"

माँ कहने लगीं, "अपने बेटे को कुछ भी खिला-पिला न पायी, कुछ विशेष बना नहीं पायी।" क्योंकि तब पगली और नलिनी को लेकर बड़ी अशान्ति चल रही थी। मैं माँ को प्रणाम कर रोते-रोते रवाना हुआ। माँ साथ-साथ काफी दूर तक गयीं और बाद में जब तक दिखायी देता रहा, ताकती रहीं। भावावेग के कारण कामारपुकुर तक सारे रास्ते भर मेरी आँखों के आँसू नहीं थमे।

कामारपुकुर पहुँचा। शशी ने मौसी को मेरा परिचय दिया। माँ के कमरे में माँ का फोटो देखकर प्राण और भी व्याकुल हो उठे, मानो वह विश्व के कल्याण के लिए ध्यान में मग्न मातृमूर्ति हो।

रात को माँ के कमरे में सोया। मौसी ने रजाई, बिस्तर आदि दिया था। दूसरे दिन (शिवरात्रि के दिन) कामारपुकुर के 'बूढ़े शिव' के दर्शन किये। शाम को मास्टर महाशय और प्रबोधबाबू कामारपुकुर आ पहुँचे। देखता क्या हूँ कि ठाकुर का घर देखते ही मास्टर महाशय (तब उन्हें पहिचाना नहीं था) की आँखों में जल भर आया। गाड़ी दरवाजे के पास रुकी। मैंने पूछा, "आपका नाम क्या?" उन्होंने कहा, "मेरा नाम मास्टर।" मास्टर कहते ही पहिचान गया। 'कथामृत' पढ़ी थी। मास्टर महाशय माँ के लिए मिठाई लाये थे। उसे बाहरवाले

घर के कमरे में रखा गया। मास्टर महाशय ने मुझसे कहा, "देखिए तो, घर में गंगाजल है या नहीं।" मैंने गंगाजल लाकर दिया। उन्होंने कपड़े, कम्बल आदि में गंगाजल छिड़क लिया। माँ के लिए खाने की वस्तु ले जा रहे हैं, इसलिए।

वे लोग कामारपुकुर में रघुवीर का प्रसाद ग्रहण कर जयरामवाटी के लिए रवाना हुए। मैं उन्हें भूतिर खाल के उस पार मानिकराजा की अमराई तक पहुँचा आया। उनके साथ दो कुली थे। मेरी इच्छा तब भी यह थी कि जल्दी से मठ पहुँचकर उत्सव देखूँगा। सन्ध्या के कुछ पूर्व ललितबाबू सिर पर पगड़ी लगाये, पतलून और अचकन पहने कामारपुकुर पहुँचे। तब मैं खाना खा रहा था। जल्दी से खाना समाप्त किया। सन्ध्या हुई। शशी ने कहा, "तुम ललितबाबू के साथ चले जाओ। उनके साथ ही मठ चले जाना। अकेले कहाँ जाओगे? साथ में उतना रुपया-पैसा भी नहीं है और रास्ता भी नहीं जानते।" मैं राजी हो गया। ललितबाबू ने गाँव के दो चौकीदारों को बुलाकर साथ लिया। जयरामवाटी जाते समय हम लोग मैदान में रास्ता भूल गये। चौकीदारों ने तब ठीक रास्ता मालूम करने के लिए 'अम्बिके' (जयरामवाटी के चौकीदार का नाम) कहकर एक साथ आवाज लगायी। जयरामवाटी का एक व्यक्ति कामारपुकुर की ओर गया था। पर वह तब तक लौटा नहीं था। इसलिए जयरामवाटी के लोग यह सोच कि उस पर डाकुओं ने हमला किया है, लाठी-सोंटे लेकर चौकीदार के साथ मैदान की ओर दौड़ते हुए आये। हम लोग उनके साथ जयरामवाटी पहुँचे। घर के भीतर पहुँचकर माँ से कहा, "माँ, आ गया।" माँ बहुत प्रसन्न

हो बोलीं, "अच्छा किया, इनके साथ जाना।"

शिवचतुर्दशी के उपलक्ष में घाटाल के वकील श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय आये हैं। भक्तों में से किसी किसी ने उपवास किया है। दूसरे दिन दोपहर में उन्होंने माँ का प्रसाद चाहा। माँ ने राधू के हाथ शाल के पत्ते में प्रसाद भिजवाया। सबको खाते देख मैंने पूछा, "यह क्या खा रहे हैं?" उन्होंने कहा, "माँ का प्रसाद।" तब मैंने भी थोड़ा सा खाया। माँ से जाकर बोला, "माँ, ये लोग सब तुम्हारा प्रसाद खा रहे हैं तो तुमने मुझको इतने दिनों से क्यों नहीं दिया?" माँ ने कहा, "बेटा, तुमने तो माँगा नहीं; मैं कैसे बोलूं?" कैसी निरहंकार भावना थी!

दूसरे दिन दोपहर को ललितबाबू पालकी में सवार हो राधू का गहना लाने गये। वे कलकत्ते के एक बड़े पुलिस कर्मचारी की चिट्ठी लेकर, एक सरकारी व्यक्ति सजकर गये थे। माँ ने मास्टर महाशय को साथ में भेजा—यह सोचकर कि ललितबाबू कम उम्र के थे। कहीं ब्राह्मण के गहने न देने पर उनका किसी प्रकार अपमान न कर दें। शाम होते होते वे लोग गहनों के साथ छोटी मामी के पिता को ही लेकर जयरामवाटी आ उपस्थित हुए।

रात को करीब दो बजे घर के भीतर से खबर आयी कि माँ को सारी रात नींद नहीं आयी। सिर में चक्कर आ रहा है। तुरन्त ही मास्टर महाशय और हममें से कुछ लोग घर के भीतर गये। सभी दवाई खोजने में लगे हुए थे। उसी समय मैंने जाकर माँ से पूछा, "माँ, ऐसा क्यों हुआ?" माँ ने अब तक किसी को कारण नहीं बतलाया था। पूछने पर बोलीं, "वे लोग तो सब गहना लाने चले गये। मैं सारे दिन यह सोचकर ही चिन्तित रही कि

कहीं ब्राह्मण का किसी प्रकार अपमान न हो। इसी चिन्ता के कारण वायु प्रबल हो जाने से ऐसा हुआ।" मैंने और किसी से कुछ न कह, मास्टर महाशय से सारी बातें कहीं और सोचने लगा--जिस ब्राह्मण ने इतनी झंझटें पैदा कीं, इतना कष्ट दिया, उसी के लिए उनकी इतनी चिन्ता।

तीसरे दिन शाम को हम लोग रवाना हुए। माँ ने ललितबाबू से कह दिया था, "लड़का बहुत भक्त है, उसे साथ ले जाना।" हम लोगों ने एक एक करके माँ को प्रणाम किया। माँ के नेत्रों से आँसू बह रहे थे—वे रो रही थीं। सामने के दरवाजे तक आकर खड़ी हुईं। हम लोग देशड़ा होकर विष्णुपुर के रास्ते पर आये। विष्णुपुर में मास्टर महाशय, प्रबोधबाबू आदि लालबाँध में मृण्मयी देवी के दर्शन को गये। मैं और ललितबाबू ट्रेन में सवार हुए। देखता हूँ कि मास्टर महाशय ने प्रबोधबाबू को भेजा है। उन्होंने कहा, "मास्टर महाशय कहते हैं कि मृण्मयी को देखकर जाइए।" हम लोग चिन्मयी का दर्शन करके आये थे, मृण्मयी के दर्शन की और इच्छा नहीं हुई। मठ में आकर उत्सव आदि का दर्शन कर मैं घर को वापस लौटा।

(क्रमशः)

○

गिरीश घोष और पतितपावन श्रीरामकृष्ण

प्रव्राजिका श्यामाप्राणा

(श्री सारदा मठ, दक्षिणेश्वर, कलकत्ता–७०००७६)

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं––

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।९/३०

––'अति दुराचारी व्यक्ति होने पर भी यदि कोई अनन्य-भक्ति द्वारा मेरी उपासना करता है, तो उसको साधु पुरुष ही मानना चाहिए, क्योंकि उसका निश्चय पवित्र है ।'

श्रीभगवान् उसका कारण भी समझाते हैं––

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।९/३१

––'अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी मेरे निरन्तर चिन्तन से शीघ्र ही साधु बन जाता है । इसलिए, हे अर्जुन, तुम डंके की चोट पर सर्वत्र मेरी इस प्रतिज्ञा की घोषणा कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता ।'

इस घोषणा के बहुत से उदाहरण हमें इतिहास में, पुराणों में एवं असंख्य सन्तों के जीवन-चरित्रों में मिलते हैं । उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीरामकृष्णदेव के समय की ही बात है । बंगाल के प्रख्यात नाटयकार गिरीश चन्द्र घोष के जीवन में किस प्रकार एक महान् परिवर्तन हुआ था, इस लेख में उसी की गाथा कही गयी है ।

गिरीश अपनी पत्नी को अत्यधिक प्यार करते थे । तीस वर्ष की अवस्था में उनकी पत्नी परलोक सिधार गयी । इस बिछोह से गिरीश का मन एकदम विचलित हो गया । वे सदा दुःखी मन से सोचते, "आह ! वह प्यारी संगिनी कहाँ चली गयी ? वह सुन्दरी युवती कहाँ लुप्त हो गयी ? कहाँ है ईश्वर ? क्यों नहीं वह मेरे मन की बात सुनता ?

नहीं, मुझे संशय होता है, ईश्वर नहीं है।" गिरीश इसी प्रकार के विचारों में डूबे हुए व्यथित बने रहते। ईश्वर के अस्तित्व पर उनका सन्देह दिन-दिन बढ़ता जा रहा था, परन्तु साथ ही जीवन के गूढ़ तत्त्व को जानने की उनकी इच्छा भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी।

किसी भी प्रकार मन की अशान्ति और चंचलता को दूर करने के लिए वे धर्मग्रन्थों को एकाग्रचित्त होकर पढ़ने लगे। किन्तु उनके अशान्त चित्त को शान्ति नहीं मिली। लगातार पाँच वर्ष इसी खोज में बीत गये। मन में अशान्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी। अपने मन की अस्थिरता को कम करने के लिए गिरीश ने एक नाटक कम्पनी में प्रवेश लिया। यहाँ उन्हें बुरे व्यक्तियों की ही संगति मिली और मिली शराब पीने की लत। नाटक के कार्यों में रत रहने पर भी ईश्वर के अस्तित्व के बारे में जानने की उनकी इच्छा प्रबल होती चली गयी।

वास्तव में गिरीश बड़े बुद्धिमान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इसलिए नाटक-कम्पनी में प्रवेश करने के कुछ ही दिनों में वे अपने अभिनय से सभी को मुग्ध करने लगे। शीघ्र ही वे अपनी नाटक-मण्डली में एक सफल अभिनेता के रूप में प्रसिद्ध हो गये। उनकी सफलता से मुग्ध हो उस नाटक-मण्डली ने उन्हें नाट्य-लेखन की ओर प्रेरित किया। गिरीश ने नाटकों की रचना आरम्भ कर दी। उसके लिए अनेक ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन एवं तथ्यों का अनुसन्धान आवश्यक था। गिरीश ने ऐसे सब ग्रन्थों के साथ ही बहुत से धर्मग्रन्थों और शास्त्रों का भी गहरा अध्ययन किया। 'बुद्धचरित' और 'चैतन्यचरित' उनके सर्वश्रेष्ठ पौराणिक नाटक हुए। तत्पश्चात् उन्होंने गोस्वामी तुलसी-

दासजी की रचनाओं के आधार पर तथा उनके चरित्र का अनुकरण करते हुए 'बिल्वमंगल' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक को भी सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हुई। शीघ्र ही गिरीश चन्द्र घोष केवल श्रेष्ठ अभिनेता ही नहीं वरन् श्रेष्ठ कवि और नाटककार के रूप में बंगाल में प्रख्यात हो गये।

यद्यपि उनका सम्पर्क दुराचारी व्यक्तियों से था तथा जीवन अत्यन्त उच्छृंखल, फिर भी उनके मन में ईश्वर को जानने की अभिलाषा बढ़ती रही। वे अवकाश मिलने पर अकेले ही साधु-सन्तों की खोज में निकल जाते। उन्हें अपने मन के अनुकूल कोई महात्मा नहीं मिल रहा था। भीतर ही भीतर वे साधु-सन्तों के जीवन की आलोचना करने लगे। सोचने लगे--सच्चे साधु तो दया, करुणा और वात्सल्य से भरे होते हैं तथा परोपकार के लिए अपना जीवन भी न्यौछावर करने हेतु तत्पर रहते हैं; क्या ऐसे सच्चे महात्मा के मुझे दर्शन नहीं होंगे? क्या धर्म केवल पोथी में ही रह जाएगा? ऐसे विचारों में डूबे हुए गिरीश का मन उत्तरोत्तर बेचैन रहने लगा। आशा और निराशा के बीच उनका मन डगमगाने लगा।

ऐसे समय एक दिन गिरीश के एक मित्र ने आकर संवाद दिया कि दक्षिणेश्वर में एक साधु रहते हैं, जो शायद उनके मन को शान्ति दे सकें और उनकी मनोकामना पूर्ण कर सकें। एक दिन शराब पीकर गिरीश दक्षिणेश्वर जा पहुँचे और 'साधु' के सामने नशे में गाली-गलौज करने लगे। जब कुछ होश आया, तो साधु से पूछा, "मैं आपके ईश्वर-फीश्वर को नहीं मानता। मैं सदा मद्यपान में रत रहता हूँ। मद्य पीना क्या पाप है? आप बताइए यदि यह

पाप है, तो आपके ईश्वर भी यही पाप करते हैं न ?"

श्रीरामकृष्ण ने शान्तभाव से उत्तर दिया, "यदि पीना चाहते हो तो पी लो, इसमें क्या है ? मगर ईश्वर का नाम लेकर पियो। अरे, ईश्वर भी तो नशा करता है।"

यह सुनते ही गिरीश ने आश्चर्यचकित हो पूछा, "ऐसी बात है ? महाशय, यह बात आपको कैसे मालूम हुई ?"

श्रीरामकृष्ण—अरे, आँख खोलकर देखो न दुनिया की ओर। अगर ईश्वर नशा न करता तो इस तरह की उल्टी-पुल्टी सृष्टि कभी न रचता !

सुनकर गिरीश का मुखमण्डल आनन्द से खिल उठा।

थोड़ी देर में वे पूरी तरह होश में आ गये। श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "मुझे अपना थियेटर दिखाओगे ?" "जी हाँ, अवश्य। जिस दिन आपकी मर्जी हो चलिएगा।"—यह कहकर गिरीश चले गये।

गिरीश के चले जाने पर एक भक्त बोल उठा, "ऐसे नराधम पापी को देखकर आपको कैसा लगा ?" श्रीरामकृष्ण बोले, "अहा, बड़ा भक्त है !" इस उत्तर में छिपे गूढ़ तत्त्व को देखने की दृष्टि उस भक्त में नहीं थी, इस कारण वह चुप ही रहा।

श्रीरामकृष्ण एक दिन गिरीश द्वारा निर्देशित नाटक देखने गये। देखकर बड़े आनन्दित हो गिरीश को धन्यवाद देते हुए बोले, "तुम्हारा नाटक मुझे बहुत अच्छा लगा, मैं बहुत प्रसन्न हुआ, इसीलिए तुम्हें धन्यवाद दे रहा हूँ।"

गिरीश—महाशय, बड़ी अच्छी बात है कि मेरा

नाटक आपको इतना अच्छा लगा और आप प्रसन्न हुए। अब कृपा कर बतावें उसमें आपको बुरा क्या लगा। मैं वह जानना चाहता हूँ।

श्रीरामकृष्ण—एक बुरी बात है। तुम कपट क्यों करते हो? अपनी मनोकामना क्यों छिपाकर रखते हो? अपनी इच्छा को दबाकर क्यों अशान्ति भोग रहे हो? याद रखो, इस पार्थिव जगत् में इन्द्रिय-भोगों के द्वारा वासनाओं का नाश कभी नहीं होता। भोग से वासनाएँ बढ़ती ही हैं, जैसे घी डालने से अग्नि की ज्वाला और भी भभक उठती है।

यह बात सुनकर गिरीश की आँखों में आँसू भर आये। उन्होंने पूछा, "क्या इससे मुझे कभी मुक्ति नहीं मिलेगी? कृपया आप मुझे उपाय बताइए।"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं? अवश्य मिलेगी। मगर धर्म-कर्म में भी थोड़ी मति रखनी पड़ेगी।"

'धर्म-कर्म में मति रखने' की बात सुनते ही मानो साँप की पूँछ पर पाँव पड़ गया। गिरीश ने गुस्से में भरकर श्रीरामकृष्ण को गालियाँ बकनी शुरू कर दी। साधारण मनुष्य तो उन वाक्यों को सुन भी न सकता, मगर श्रीरामकृष्ण धीर-स्थिर रहकर शान्त भाव से तिरस्कार सहते हुए चुपचाप सुनते रहे। वे पहले ही जानते थे कि गिरीश तनिक भी धर्मोपदेश नहीं सह सकेगा। जब गिरीश चुप हो गये तो श्रीरामकृष्ण उन्हें आशीर्वाद देकर दक्षिणेश्वर लौट आये।

गिरीश ने दूसरे ही दिन अपने मित्र को श्रीरामकृष्ण के पास भेजा और अपनी पूर्वदिवस की करनी के लिए क्षमा-

याचना करने को कहा। मित्र ने श्रीरामकृष्ण के साथ बड़ी चतुराई से वार्तालाप किया--"महाराज, गिरीश यद्यपि मदखोर है, तथापि उसका मन बहुत सरल है। आप इतने उदार हैं, उसे क्षमा करें।" श्रीरामकृष्ण ने मुसकराते हुए कहा, "खाली गालियाँ देता है। यदि मुझे पीटने लगे तो मैं क्या करूँ ?"

मित्र—फिर भी आप उसे क्षमा करें।

श्रीरामकृष्ण--पीट-पीटकर मार डाले तो ?

मित्र--आपका स्वभाव ही ऐसा है कि क्षमा करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय भी तो नहीं है। देखिए न, वह तो क्रोधी स्वभाववाला व्यक्ति है, उच्छृंखल जीवन बिताता है। उसके पास देने के लिए कोई अन्य वस्तु है ही कहाँ ? साँप विप को छोड़ भला और क्या दे सकता है ?

श्रीरामकृष्ण गिरीश के मित्र की बातें चुपचाप सुनते रहे। कुछ समय चुप रहकर बोले, "एक मदद कर सकोगे, एक गाड़ी ले आओ। मैं अभी उससे मिलने जाऊँगा। क्या तुम मेरे साथ चलोगे ?"

जब श्रीरामकृष्ण उस मित्र के साथ गिरीश के भवन में पहुँचे, उन्होंने गिरीश को शराब के नशे में चूर देखा। वे बेहोश पड़े हुए थे। श्रीरामकृष्ण उनके पास बैठकर शान्त भाव से उसी प्रकार व्यवहार करने लगे, जैसा वे अन्य भक्तों के साथ करते थे। उनकी वाणी सुनकर गिरीश उठ बैठे। जैसे साँप सँपेरे की बीन सुनकर टोकरी से निकल-कर फन फैला लेता है और मन्त्रमुग्ध हो सिर ऊँचा करके सुनता है, उसी प्रकार गिरीश श्रीरामकृष्ण की वचन-सुधा स्थिर मन से सुनने लगे। आश्चर्य की बात है कि

गिरीश को थोड़ी भी खीझ नहीं हुई । उन्होंने गुस्सा भी नहीं किया । वे चुपचाप ठाकुर के कथामृत का पान करते करते सो गये । श्रीरामकृष्ण भी दक्षिणेश्वर लौट आये ।

उस दिन से ही, न जाने क्यों, गिरीश का मन ठाकुर श्रीरामकृष्ण की ओर खिंचने लगा । पर ऊपर से देखने से ऐसा नहीं लगता था कि गिरीश के चरित्र में कोई परिवर्तन हुआ हो । वे तो पहले की ही भाँति शराबखोरी और कुसंग में रत थे । पर श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के साथ एक प्राणप्रिय बन्धु की तरह मिल-जुलकर उनके मन को पूरी तरह से अपनी ओर खींच लिया । यह प्रभु का एक अद्‌भुत कौशल था । प्रभु की चातुरी से भला कौन मुग्ध न होगा ! तुच्छ मानव-मन भगवान् की तीक्ष्ण बुद्धि को भला कैसे समझे !

एक दिन की बात है । गिरीश बग्घी में अकेले ही दक्षिणेश्वर आये । बग्घी दूर खड़ी कर दी और पैदल ही बगीचे में से होते हुए श्रीरामकृष्ण के कमरे की ओर आये । श्रीरामकृष्ण ने दूर से गिरीश को आते हुए देखा । गिरीश का मुखमण्डल शान्त दीख रहा था । उन्हें इतना शान्त देख श्रीरामकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने यह भी देखा कि मदिरा की बोतल गाड़ी में ही छूट गयी है । इस-लिए उन्होंने एक भक्त से उस बोतल को ले आने के लिए कहा । जब बोतल आ गयी, तो उसे कमरे के एक कोने में रखवा दिया । गिरीश ने कमरे में आकर देखा श्रीरामकृष्ण भक्तों के साथ ईश्वरीय प्रसंग कर रहे हैं । वह भावपूर्ण ईश्वरीय प्रसंग देर तक चलता रहा । भक्तगण मन्त्रमुग्ध हो सुन रहे थे । कुछ देर बाद गिरीश का गला सूखने लगा । वे गाड़ी की ओर जाने को उठे थे कि श्रीरामकृष्ण ने मृदु

स्वर से गिरीश को बुलाकर कहा, "बाबू, इतना कष्ट करके गाड़ी तक जाने की जरूरत नहीं। बोतल इधर ही रखी है, उठा लो और पियो।"

आश्चर्य की बात है कि उसी दिन से गिरीश का मद्य-पान शनैः शनैः घटने लगा। अन्त में उन्होंने मदिरा पीना एकदम छोड दिया। इसके बारे में वे अपने मित्रों से कहते थे, "मेरे मद्यपान-त्याग की बात पूछते हो? इसका श्रेय केवल मेरे गुरुदेव के मेरे प्रति आश्चर्यचकित कर देने-वाले व्यवहार को है। यह तो तुम सभी को विदित है कि मेरे भीतर न तो कोई पवित्र भाव था, न सद्विचार, न सद्बुद्धि थी, न ही सज्जनों के प्रति मेरी प्रीति अथवा उनसे कोई मित्रता ही। फिर भी मेरे गुरु ने मुझे न किसी कुसंग के लिए रोका, न कभी मद्यपान के लिए मना किया। उन्होंने मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी।"

मद्यपान त्यागना तो अपेक्षाकृत सरल था, पर मन को साधन-भजन में लगाना एक जटिल समस्या थी। गिरीश के मन में साधन-भजन की इच्छा होते हुए भी उनका अपने दोस्तों के साथ सदा हँसी-मजाक करने और मजा लूटने का जो स्वभाव था, उसके कारण उनके द्वारा कोई साधन-भजन सम्भव न था। किन्तु जैसे-जैसे श्रीरामकृष्ण के साथ उनकी घनिष्ठता बढ़ने लगी, उनका मन उतना ही बेचैन होने लगा। एक दिन वे अकस्मात् गुरु-चरणों में उपस्थित हुए और पूछ उठे, "क्या दुर्जनों का साथ छोड़ देने से मुझे धर्मलाभ होगा?"

श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उत्तर दिया, "कभी नहीं, कभी नहीं; वरन् पतितों को छोड़ देना ठीक न होगा। पतितों के उद्धार के लिए तो स्वयं भगवान् मानव-देह धारण कर

अवतीर्ण होते हैं। क्या तुम भगवान् से भी बड़े हो?"

गिरीश ने पुनः प्रश्न किया, "मद्यपान छोड़ने से ईश्वर-प्राप्ति होगी?"

श्रीरामकृष्ण—इस सबसे क्या लाभ? असल बात है व्याकुल-चित्त से उनका स्मरण करना। तुमने मद्यपान छोड़ा, उससे क्या तुम्हें भगवान् का साक्षात्कार मिला? भगवान् अखण्ड चैतन्यस्वरूप हैं। उनकी आँखों को कौन ढक सकता है?

गिरीश—बताइए, तब मैं क्या करूँ? न तो मैं ध्यान कर सकता हूँ और न ही मैं व्याकुल मन से भगवान् का स्मरण करने के योग्य हूँ। इस विषम परिस्थिति में मुझे मार्ग दिखाइए। बताइए कैसे मेरा उद्धार होगा?

श्रीरामकृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। गिरीश ने घर लौटकर लगातार दो सप्ताह निष्ठा के साथ ईश्वर-प्रार्थना और ध्यान में बिताये। इससे भी जब कोई सफलता नहीं मिली, वे निराश हृदय लेकर फिर दक्षिणेश्वर आये। उन्होंने मन में ठान लिया था कि आज श्रीगुरुदेव के सामने कुछ न कुछ फैसला करना ही है। उस समय श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में भक्तों के साथ वार्तालाप कर रहे थे।

गिरीश के भीतर धधकती हुई अशान्ति को श्रीराम-कृष्ण ने दूर से ही देख लिया और बोल उठे, "अरे, गिरीश आ गया!" फिर कमरे के अन्दर गिरीश के आते ही बोले, "ओ गिरीश, इतनी कठोर ध्यान-धारणा, साधन-भजन करने के लिए मैंने तुमसे कब कहा? केवल भोजन से पहले और रात में सोने के पूर्व एक बार उनका स्मरण कर लेना। बस, इतने से ही काम हो जाएगा। कर सकोगे तो?"

कुछ देर सोच-विचारकर गिरीश ने उत्तर दिया,

"प्रभो ! नहीं, नहीं। मुझमें इतना भी करने का सामर्थ्य नहीं। सारा समय तो नाट्यशाला में बीतता है। किस समय कहाँ भोजन करूँ, कहाँ सो जाऊँ इसका कोई ठीक नहीं।" कुछ रुककर फिर बोले, "महाशय, सुनिए, कोई काम नियमानुसार करना मेरे लिए दुष्कर है। कोई नियम-कानून मानना मेरे लिए असम्भव है। इसलिए साधन-भजन आदि को तो मैंने तिलांजलि दे दी है। प्रभो, मैं सच कहता हूँ, एक क्षण भी मैं मन लगाकर ईश्वर-चिन्तन नहीं कर सकता। मैं शपथ खाकर कह रहा हूँ, ढोंग नहीं कर रहा हूँ। मेरे लिए किसी प्रकार का साधन-भजन सम्भव नहीं।"

श्रीरामकृष्ण सब बातें चुपचाप सुन रहे थे। हठात् उनका मन भावाविष्ट हो अर्धबाह्यदशा में पहुँच गया। उसी अवस्था में उन्होंने कहा, "ईश्वर को पाने के लिए यदि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तो मुझे अपना 'बकलमा'* दे दो।"

आश्चर्यचकित हो गिरीश बोल उठे, "आप क्या कह रहे हैं ? बकलमा ?" और यह कह वे चुप हो गये।

श्रीरामकृष्ण——तुम्हारे लिए साधन-भजन, जप-ध्यानादि मैं ही करूँगा। ठीक है न ? इस क्षण से तुम निश्चिन्त हो जाओ। अपनी मर्जी के अनुसार नाटक-फाटक आदि जिसमें चाहो मन लगाओ और मजे से रहो। अब से तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है। ऐसा सोचना जो कुछ हो रहा है सब माँ की इच्छानुसार हो रहा है। किसी के सामने

* 'बकलमा' का तात्पर्य है अपना भार सौंपना जैसे मुवक्किल वकालतनामा के द्वारा अपने वकील पर भार सौंप देता है।

हाथ न बढ़ाना। किसी से कुछ न माँगना। कभी याचना न करना। जगन्माता पर सदा निर्भर होकर रहना। इस बात को सदा याद रखना—

त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन।
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।।

—हे प्रभो, तुम जैसा कराओगे वैसा ही करूँगा, जहाँ रखोगे वहीं रहूँगा। इस भावना का आश्रय लो और ईश्वर की कृपा पर सर्वतोभावेन निर्भर रहते हुए जीवन बिताओ।

गिरीश श्रीगुरु को बकलमा देकर निश्चिन्त हो गये। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि पेड़ के पत्ते जिस प्रकार हवा और सूर्य-किरणों के आधार पर जीवित रहते हैं, मैं भी उसी प्रकार ईश्वरेच्छा को आधार बनाकर जिऊँगा। बिल्ली का बच्चा माँ के सिवा किसी दूसरे को नहीं जानता—सम्पूर्णतया माँ के ऊपर ही निर्भर रहता है। माँ उसे कभी मुलायम बिछौने के ऊपर, कभी सूखी जमीन पर, कभी लकड़ियों के ढेर के पीछे जहाँ चाहे रख देती है। बच्चा केवल म्याऊँ-म्याऊँ करके अपनी माँ को पुकारता रहता है। माँ ही बच्चे की एकमात्र आश्रय है, वह अपनी माँ को ही आधार बनाकर जीवित रहता है। मैं भी उसी तरह सोलहों आने अपने आपको श्रीभगवान् को समर्पित करके जीवन बिताऊँगा।

श्रीरामकृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य गिरीश की मनोवृत्ति को आध्यात्मिक जीवन की ओर मोड़ने के लिए कुशलतापूर्वक विशेष प्रयास किये; साथ ही उसे सावधान भी कर दिया कि किसी से कुछ भी न माँगना। इस उपदेश का पालन करने में गिरीश को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा था। पर उन्होंने हिम्मत नहीं हारी, वरन्

निर्विकार चित्त से समस्त यातनाओं को चुपचाप सहन किया। उस दिन से लेकर अपने जीवन के शेष दिन तक उन्होंने कभी किसी से कुछ नहीं माँगा। लोग अपनी खुशी से जो कुछ दे देते, वही वे लेते। इस प्रकार उन्होंने सारा जीवन अपने गुरुदेव के आदेश का पालन किया। उधर श्रीरामकृष्ण ने भी अपने शिष्य को चरित्र-गठन और भगवत्-शरणागति का पथ बड़े कौशल से प्रदर्शित किया।

एक दिन की घटना है। कोई काम किया जाना था। भक्तों में बातचीत चल रही थी कि कौन वह कार्य सम्पन्न करेगा। इतने में गिरीश आये और बोले, "मैं करूँगा।" यह सुन श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त उनकी बात का संशोधन किया और सिखाया, "इस तरह कहना उचित नहीं। यदि न कर सके तब क्या होगा ? इसलिए सर्वदा कहो, ईश्वरेच्छा होने से करूँगा। तुमने तो बकलमा दे दिया है न ? आज से भलीभाँति याद रखो कि तुम्हारी जीवन-यात्रा, चलना-फिरना, सब कुछ ईश्वर की इच्छा से हो रहा है। अतएव अपनी इच्छा को त्याग दो। 'मैं' को छोड़ दो। अहंभाव छोड़कर पूर्णतया ईश्वराधीन हो जाओ। तभी बकलमा देना सार्थक होगा।"

उस दिन गिरीश को बकलमे का गूढ़ तत्त्व समझ में आया। अभिमान को त्याग देना है। एक बार श्रीगुरु के चरणों में आत्म-समर्पण करने के बाद अभिमान के भाव को पूर्णतया लुप्त हो जाना चाहिए। तब अपनी इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुःख इत्यादि किसी विषय में कोई स्वतन्त्रता नहीं रह जाती, तब पूर्णरूप से ईश्वराधीन हो जाना होता है। गिरीश के मन में गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट भाव को ठीक-ठीक समझने की इच्छा क्रमशः प्रबल होती जा रही थी।

गुरुवाक्यों पर श्रद्धा बढ़ने लगी। गुरु के प्रति आकर्षण अब प्रेमामें परिणत हो रहा था। अचरज की बात है कि वह क्रोधी, दुरात्मा और झगड़ालू प्रकृतिवाला गिरीश अब धर्मपरायण, साधकों के बीच भक्त-शिरोमणि बन गया। उसकी आध्यात्मिक उन्नति सभी के लिए चर्चा का विषय बन गयी।

गिरीश की लौकिक उन्नति भी असाधारण थी। नाटचशाला को अपना अथक परिश्रम दे गिरीश अपने जीवनकाल में ही एक सच्चे निःस्वार्थी कर्मयोगी बन गये। उन्होंने नाटक के पुराने ढर्रे को त्यागकर आधुनिक शैली का आविष्कार किया, जिससे नाटचकला में आधुनिकता एवं उन्नति के चार चाँद लग गये। यही नहीं, प्राचीन युग के कालिदास, भवभूति, भास आदि श्रेष्ठ नाटककारों के समान गिरीश ने भी आधुनिक युग में श्रेष्ठ बँगला नाटककार के रूप में ख्याति अर्जित कर ली। वर्तमान युग में इस तरह के नाटककार बँगला साहित्य में बिरले ही हैं।

गिरीश रंगमंच के क्षेत्र में केवल श्रेष्ठ कवि, रचयिता और अभिनेता ही नहीं, वरन् निपुण निर्देशक भी बन गये थे। इस प्रकार लौकिक दृष्टि से भी उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी थी। इन सब कार्यों के अतिरिक्त गिरीश ने निर्भीक हो एक और कार्य साहस के साथ प्रारम्भ किया। वह था अभिनय-कला को समाज से सम्मानित कराना। तब समाज में स्त्रियों को स्वतन्त्रता थी ही नहीं। जो महिलाएँ नाटक में अभिनय करतीं, उनको हीन दृष्टि से देखा जाता था। गिरीश ने घोषणा की कि कोई भी नारी नाट्यमंच में कलाकार की श्रेणी में पहुँचने से पतिता नहीं बन जाती। उन्होंने सम्भ्रान्त महिलाओं को अपने नाटकों में

कलाकार के रूप में स्थान दिया और समाज से उचित मान भी दिलवाया।

उन दिनों सामाजिक नियम महिलाओं के लिए अत्यन्त कड़े थे। एक बार नारी के शीलभ्रष्ट हो जाने पर समाज उसका बहिष्कार कर देता था। घर के लोग भी उसको निकाल देते थे। घर और समाज दोनों जगह से निकाल दिये जाने पर स्त्रियों के लिए जीवन-यापन करने का कोई सहारा नहीं रह जाता था। इस कारण कभी-कभी सम्पन्न एवं सम्मानित घर की महिलाओं को भी वेश्याओं का आश्रय लेना पड़ता था। वेश्यावृत्ति के सिवा उन लोगों के पास कोई दूसरा चारा बचता न था। उस नरककुण्ड में उनका सारा जीवन बीत जाता। उस स्थिति से बाहर निकलने का उपाय भी नहीं था। गिरीश ने ऐसी महिलाओं की ओर सहानुभूति से देखा और उन्हें उस शोचनीय परि-स्थिति से बाहर लाने का उपाय किया। उन्होंने कलाप्रेमी महिलाओं को वेश्यालयों से निकाल अपनी नाटकशाला में स्थान दिया और सम्मानित मार्ग पर चलकर जीवन-यापन करने में उनकी यथाशक्ति सहायता की।

उस काल में नाटक के सभी पात्र पुरुष ही होते थे। स्त्रियों की भूमिका भी पुरुष ही निभाया करते थे। गिरीश ने स्त्रियों की भूमिका में स्त्रियों को ही अभिनय का काम दिया। सर्वप्रथम स्त्रियों की भूमिकाओं के लिए गिरीश ने सम्भ्रान्त कुल की छ: महिलाओं को आमन्त्रित किया, उनको नाटककला में प्रवीण बनाया और श्रेष्ठ अभिनेत्रियों को समाज में सम्मानित स्थान दिलवाया। गिरीश की सहानुभूति मात्र पतिता नारियों तक ही सीमित नहीं रही। दरिद्र कुल की स्त्रियों को भी नाटक में वेतन देकर उनकी

आर्थिक दशा को सुधारा; उनको धन-लाभ का मार्ग दर्शा-कर उनके मान, प्राण और शील की रक्षा की। इस प्रकार गिरीश ने लौकिक दृष्टि से स्त्रियों की रक्षा तो की ही, साथ ही उनके पारमार्थिक उद्धार के लिए भी अनेक प्रयत्न किये। अवसर पाने पर सभी अभिनेत्रियों को वे श्रीरामकृष्ण के पास ले जाया करते और उनके वचनामृत का पान कराया करते। कोई कोई महिला अपने अपवित्र जीवन का स्मरण करके उस महात्मा के पास जाने में संकुचित होती। वह सोचती, "मेरे कलंकित जीवन के कारण वह पवित्र देवालय भी अपवित्र हो जाएगा," और ऐसे भय के कारण वहाँ जाने को राजी न होती। परन्तु गिरीश ऐसी महिलाओं को कई तरह से समझाते, कहते, "क्यों डरती हो? श्रीरामकृष्ण हम लोगों को बहुत प्यार करते हैं। हम लोगों का उद्धार करने के लिए ही वे इस धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं। जैसे माता गन्दगी और कीचड़ से लिपटी अपनी सन्तान को साफ करके गोद में ले लेती है, उसी प्रकार करुणावतार श्रीरामकृष्ण हमारे सभी पापों को साफ करके हमें आश्रय देने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। हम-जैसे पतितों को पावन करने के लिए ही उनका आगमन हुआ है।"

गिरीश स्वयं तो आध्यात्मिक रंग में रँगे हुए थे, उन्होंने अपने सभी सहकर्मियों एवं मित्रों को भी आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव में गिरीश के संसर्ग में आकर अनेक नर-नारियों ने श्रीराम-कृष्णदेव की कृपा प्राप्त की तथा उसके सहारे आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए अपने जीवन को सार्थक किया।

गिरीश ने और भी एक चमत्कारी कार्य किया।

उन्होंने श्रीरामकृष्ण की भावधारा को अपनी रचनाओं में और नाटक के मंच पर उतारकर जन-साधारण को मुग्ध-कर लिया तथा सबके मन में एक नवीन चेतना संचारित कर दी। यही नहीं, उन्होंने श्रीरामकृष्ण की भक्तगोष्ठी में भी चैतन्य का संचार किया। श्रीरामकृष्ण की महा-समाधि के बाद भी बहुत से गृहस्थ भक्त गिरीश के जीवन को देखकर आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अनुप्राणित हुए।

एक घटना का वर्णन करना ठीक होगा। जब यह पता चला कि श्रीरामकृष्ण को कैंसर है, भक्तगण चिकित्सा हेतु उन्हें काशीपुर के उद्यान-भवन में ले आये। यह उद्यान-भवन किराये पर लिया गया था। काशीपुर में भक्तवृन्द भी श्रीरामकृष्ण के साथ रहकर उनकी सेवा करने लगे। उद्यानवाटिका में आने के कुछ ही दिन बाद की घटना है। एक दिन दोपहर को लगभग ३ बजे के समय श्रीरामकृष्ण वाटिका में घूमने के लिए दूसरी मंजिल के अपने कमरे से उतरकर नीचे आये। वे धीरे धीरे घूमते हुए दक्षिण फाटक की ओर चलने लगे। छुट्टी का दिन था। पहली जनवरी, सन् १८८६ का दिन। कुछ सर्दी भी थी। गृहस्थ भक्त और दिनों की अपेक्षा अधिक संख्या में उपस्थित थे। सर्वप्रथम गिरीश ने देखा कि श्रीरामकृष्ण बगीचे में आ रहे हैं। गिरीश एक पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। श्रीरामकृष्ण को देख-कर वे सामने आ गये। श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "क्या गिरीश! तुम तो मेरे अवतारत्व के बारे में सबसे कहते रहते हो। ऐसा तुमने मुझमें क्या देखा और कैसे जान लिया जरा बताओ तो?" तत्क्षण गिरीश श्रीगुरु के चरणों पर गिर पड़े और बोले, "व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषि भी

जिसकी व्याख्या न कर सके उसके सम्बन्ध में मुझ-जैसा तुच्छ व्यक्ति भला क्या बोल सकता है ?" गिरीश के उत्तर से उनके मन के सरल विश्वास को देख श्रीरामकृष्ण मुग्ध हो गये और सब भक्तों को सम्बोधित कर कहने लगे, "तुम लोगों से मैं और क्या कहूँ ? यही एक आशीर्वाद देता हूँ कि तुम सबको चैतन्य प्राप्त हो !" यह कहते कहते श्रीरामकृष्णदेव भावसमाधि में मग्न हो गये। इस आशीर्वचन ने भक्तों के हृदयमन्दिर में प्रवेश कर सबके हृदय को अनिर्वचनीय आनन्द से परिपूर्ण कर दिया। वे सब बेसुध होकर देशकालादि के बाह्य प्रपंच को भूल गये। यह भी भूल गये कि श्रीरामकृष्ण अस्वस्थ हैं और पूर्ण आरोग्य-लाभ से पूर्व उनके शरीर का स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। भावाविष्ट अवस्था में वे लोग उनके चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम करने लगे।

श्रीरामकृष्ण ने भी भावावस्था में भक्तों के हृदयस्थल का स्पर्श कर प्रत्येक में चैतन्य का संचार कर दिया। पापी-तापी सभी को अपने अभय चरणों में आश्रय दे दिया। रामचन्द्र दत्त आदि भक्तों ने उस दिन का नाम रखा 'कल्पतरु दिवस'। श्रीरामकृष्णदेव के जीवनीकार स्वामी सारदानन्दजी ने उसे 'आत्मप्रकाश द्वारा अभय-प्रदान दिवस' कहकर पुकारा है। इस अपूर्व घटना के मूल में गिरीश ही कारण थे।

उन्होंने अपने श्रीगुरु को जो 'बकलमा' दिया था, उसके विषय में स्वामी तुरीयानन्दजी ने कहा है, "गिरीश ने जिस दिन बकलमा दिया था, उसी दिन से उन्होंने अडिग रहकर निष्ठापूर्वक गुरु के उपदेश का पालन किया था। वास्तव में गिरीश हम संन्यासियों से भी बढ़कर धर्मपरायण

हैं। उन्होंने अन्तर्यामी श्रीभगवान् के आदेशानुसार जीवन-यापन की प्रतिज्ञा की और उसे मृत्युपर्यन्त निभाया।"

अपने अन्तिम काल में गिरीश पूरे होश में रहे और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रार्थना की, "हे ठाकुर, हे प्रभो, हे दयामय, इस प्रमत्त संसार के धन-आवरण को मेरी आँखों के सामने से हटा दो।" और यह कह उन्होंने प्राणों को त्याग दिया। भगवान् कृष्ण के गीता में दिये गये एक उपदेश का स्मरण करके इस चर्चा को समाप्त करें--

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ७/५-६

--जो पुरुष अन्तकाल में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हे पार्थ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव का स्मरण करता हुआ अपने शरीर का त्याग करता है, वह उस-उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से प्रेरित रहा हुआ है।'

अन्त में हम प्रार्थना करते हैं--

ख्याता च ते पतितपावनता तु यस्मात्।
तस्मात् त्वमेव शरणं मम शंखपाणे॥

--'हे शंखपाणे! चूंकि तुम्हारी पतितपावनता विख्यात है, इसलिए मैं तुम्हारी ही शरण लेता हूँ।'

राष्ट्रीय युवा दिवस
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में आयोजित कार्यक्रम

भारत सरकार ने स्वामी विवेकानन्द के जन्मदिवस १२ जनवरी को हर वर्ष राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया है। स्मरणीय है कि स्वामीजी का जन्म १२ जनवरी १८६३ को हुआ था। यह १९८५ का वर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है। भारत के प्रधान मंत्री श्री राजीव गाँधी ने इस युवा वर्ष का उद्‌घाटन १२ जनवरी को करते हुए स्वामी विवेकानन्द के महनीय व्यक्तित्व और युवाओं के लिए उनके सन्देश का स्मरण किया। भारत सरकार ने देश की शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं के नाम प्रपत्र जारी करते हुए स्वामी विवेकानन्द के जन्म-दिवस (१२ जनवरी) को हर वर्ष 'राष्ट्रीय युवा दिवस' के रूप में मनाने का आग्रह किया है और उसका कारण बताते हुए लिखा है— "ऐसा अनुभव किया गया कि स्वामीजी का दर्शन और वे आदर्श, जिनके प्रति उनका जीवन समर्पित रहा तथा जिन्हें कार्यरूप देने का वे आजीवन प्रयत्न करते रहे, भारतीय युवा के लिए प्रेरणा का महान् स्रोत हो सकते हैं।"

इस परिप्रेक्ष्य में विगत १२ जनवरी को देश भर में स्वामी विवेकानन्द का जन्मदिन राष्ट्रीय युवा दिवस के रूप में सर्वत्र उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया गया। रायपुर के इस आश्रम ने भी रविशंकर विश्वविद्यालय के साथ मिलकर, बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय युवा दिवस का आयोजन किया। इस उपलक्ष में विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं की एक विशाल रैली निकाली गयी, जिसमें ५,००० से भी अधिक युवक-युवतियों ने भाग लिया। इनमें युवतियों की संख्या २,००० से ऊपर थी। ये छात्र-छात्राएँ नगर के मध्य में स्थित नेताजी सुभाष स्टेडियम में इकट्ठे हुए। स्वामी विवेकानन्द का एक विशाल तैल चित्र ट्रेक्टर के ट्राली में सुन्दर रूप से सजाया गया था। मंगलगीत एवं जयघोष के साथ यह रैली स्टेडियम से ९ बजे सुबह प्रारम्भ हुई। छात्र-छात्राओं के अलावा प्राध्यापकगण भी रैली में सम्मिलित थे। रैली में शत-शत छात्र-छात्राओं के हाथ में स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणादायी सूक्तियों के

फलक थे। बहुत से लोग स्वामीजी की विभिन्न मुद्राओं में छबि लेकर चल रहे थे। अन्य बहुत से लोगों के हाथों में आकर्षक बैनर और पोस्टर थे तथा युवक-युवतियाँ जोशीले नारे लगाते हुए सुव्यवस्थित रूप से चल रहे थे। शास्त्री चौक, जयस्तम्भ चौक, मालवीय मार्ग, सदर बाजार, आजाद चौक, इत्यादि स्थानों पर रैली के लिए स्वागत-द्वार बनाये गये थे। रैली नगर के प्रमुख मार्गों से होती हुई १० बजकर २५ मिनट पर आश्रम के प्रांगण में पहुँची। आश्रम के द्वार पर रविशंकर विश्वविद्यालय के कुलपति डा. रत्नकुमार ठाकुर तथा स्वामी आत्मानन्द ने रैली का स्वागत किया तथा स्वामी विवेकानन्द के तैल चित्र पर श्रद्धा के सुमन चढ़ाये। रैली आश्रम में आकर एक जनसभा के रूप में परिवर्तित हुई। इस समारोह के लिए एक सुबृहत् मण्डाल बनाया गया था। मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री अर्जुन सिंह ने इस विशाल सभा को प्रमुख अतिथि की आसन्दी से सम्बोधित करते हुए कहा, "इतिहास साक्षी है कि जब-जब अलगाववादी प्रवृत्ति को शक्ति मिली, हमारी आजादी को भी खतरा पैदा हुआ। प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बार-बार इस खतरे की ओर आगाह किया तथा अपनी शहादत दी। इस शहादत का तकाजा है कि नौजवान कभी न भूलें कि देश में अलगाव तथा फिरकापरस्ती को कोई स्थान नहीं है।"

उन्होंने आगे कहा, "आज स्वामी विवेकानन्द के जन्मदिन पर राष्ट्र अपने एक ऐसे महान् व्यक्ति के प्रति आदर तथा आस्था व्यक्त कर रहा है, जिसने देश की पुरातन संस्कृति, उसके आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को आधुनिक भारत के सन्दर्भ में सार्थकता प्रदान की। विवेकानन्द ने जो संघर्ष किया, हम उन्हीं के पदचिह्नों पर चलने का संकल्प लें। भारत के नवनिर्माण तथा स्वतंत्रता की रक्षा का दायित्व युवा पीढ़ी पर है। युवा पीढी देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को संरक्षण प्रदान करे। भारत के प्रजातंत्र में युवा वर्ग ने मतदाता के रूप में पहली बार निर्णायक भूमिका निभायी है तथा देश का नेतृत्व युवक प्रधानमंत्री को सौंपा है। एकनिष्ठ विचार तथा एकता द्वारा ही सफलता मिल सकती है।" अनुशासन पर बल देते हुए उन्होंने आगे कहा कि युवा शक्ति के लिए अनुशासन परमावश्यक है।

अनुशासन ही शक्ति को प्रेरित करता है। शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने ऐसी शिक्षाप्रणाली की आवश्यकता पर बल दिया, जिससे युवा वर्ग आत्मनिर्भर हो तथा देश की भावी चुनौतियों को स्वीकार करने में सक्षम हो। अन्त में उन्होंने इस कार्यक्रम के सफल आयोजन की सराहना की। उन्होंने युवा वग को नववर्ष की शुभ कामना देते हुए उनके मंगलमय जीवन की कामना की।

सभा की अध्यक्षता करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने स्वामी विवेकानन्द के उन आशा-भरे उद्‌गारों का उल्लेख किया, जो उन्होंने भारत की युवा शक्ति के सम्बन्ध में प्रकट किये थे। उन्होंने अपेक्षा की कि देश की तरुणाई स्वामी विवेकानन्द के सपने को साकार करते हुए मातृभूमि के कल्याण के लिए समर्पित होगी और राष्ट्रों के विश्व-मंच पर अपने इस भारत राष्ट्र को सर्वोच्च गौरव का स्थान प्राप्त कराएगी।

अपने स्वागत-भाषण में कुलपति डा. ठाकुर ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द के पदचिह्नों पर चलकर युवा वर्ग भाषा, धर्म तथा क्षेत्रीयता की संकीर्ण प्रवृत्तियाँ त्यागकर सहिष्णुता अपनाएगा, जिससे देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो। संभागीय शिक्षण अधीक्षक श्री एस.पी. श्रीवास्तव ने आभार व्यक्त किया। कार्यक्रम का संचालन शासकीय महिला महाविद्यालय के प्राचार्य श्री मुरारीलाल शुक्ल ने किया। सामूहिक राष्ट्रगान के पश्चात् सबको स्वल्पाहार दिया गया तथा प्रत्येक को स्वामी विवेकानन्द की पुस्तक भेंटस्वरूप प्रदान की गयी।

इस अंचल के समाचार पत्रों ने रैली की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा कि युवक-युवतियों की ऐसी विशाल और अनुशासनबद्ध रैली रायपुर के इतिहास में अभूतपूर्व है। यह पहला अवसर था, जब युवा शक्ति द्वारा ऐसी उत्तरदायित्वपूर्ण जागरूकता का परिचय दिया गया।

इससे पूर्व, ११ जनवरी को अपराह्न ४ बजे, मुख्यमंत्री श्री अर्जुन सिंह ने रविशंकर विश्वविद्यालय में स्वामी विवेकानन्द स्मृति तुलनात्मक धर्म और दर्शन' विभाग' का विधिवत् उद्‌घाटन किया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता भी स्वामी आत्मानन्द ने की। ○